वंसणमूलो धम्मो

आत्मधर्म

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ (सौराष्ट्र) का मुखपत्र

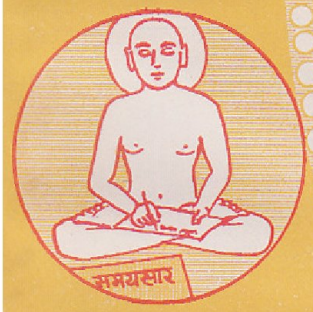

अति महादुर्लभ त्याग विषय-
कषाय जो तप आदरै।
नर भव अनूपम कनक घट पर
मणिमयी कलशा धरै॥

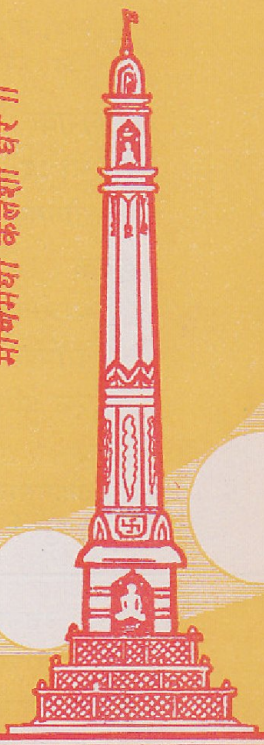

सम्पादक : डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल
कार्यालय : टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४

आत्मधर्म [३९३]

[हिन्दी, गुजराती, मराठी तथा कन्नड़ — इन चार भाषाओं में प्रकाशित
जैन समाज का सर्वाधिक बिक्रीवाला आध्यात्मिक मासिक]

संपादक :
डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल

प्रबंध संपादक :
अखिल बंसल

कार्यालय :
श्री टोडरमल स्मारक भवन
ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४

प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (भावनगर-गुजरात)

शुल्क :
आजीवन : १०१ रुपये
वार्षिक : ६ रुपये
एक प्रति : ५० पैसे

मुद्रक :
सोहनलाल जैन
जयपुर प्रिण्टर्स, जयपुर

क्या

१ मेरो मन ऐसी खेलत होरी
२ जीवन ही बदल डाला
३ संपादकीय : उत्तम तप
४ परमाणनयनिक्षेप को न उद्योत [समयसार प्रवचन]
५ षट्द्रव्य या तत्त्वार्थ [नियमसार प्रवचन]
६ द्रव्यसंग्रह प्रवचन
७ ज्ञान-गोष्ठी
८ समाचार दर्शन
९ पाठकों के पत्र
१० प्रबंध संपादक की कलम से

उत्तम तप सम्यक्चारित्र का भेद है; सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होता। पुण्य या पापरूप कोई भी इच्छा आत्मस्वभाव में नहीं है। इच्छारहित निर्मल चैतन्यस्वरूप को जानकर उसके अनाकुल आनंद के अनुभव में लीन होने पर वीतरागी भाव से आत्मा शोभित हो जाता है, इसका नाम तप है। ऐसा तप मुक्ति का कारण है।

—पूज्य स्वामीजी

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का, आत्म शान्ति का, प्रगट करे जो मर्म।
समयसार का सार, सभी को प्रिय, यह आतम धर्म॥

वर्ष : ३३ [३९३] अंक : ९

मेरो मन ऐसी खेलत होरी॥
मन-मिरदंग साज करि त्यारी, तन को तमूरा बनो री।
सुमति सुरंग सरंगी बजाई, ताल दोउ कर जोरी॥
राग पांचौं पद को री॥ मेरो मन०॥

समकित रूप नीर भरि झारी, करुना केशर छोर।
ज्ञानमई लेकर पिचकारी, दोउ कर मांहि सम्होरी॥
इन्द्री पाँचौं सखि बोरी॥ मेरो मन०॥

चतुरदान को है गुलाल सो, भरि-भरि मूठ चलोरी।
तप मेवा की भरि निज झोरी, यश को अबीर उड़ोरी॥
रंग जिन-धाम मचो री॥ मेरो मन०॥

'दौलत' बाल खेलें अस होरी, भव-भव दुख टलोरी।
शरना ले इक श्रीजिन को री, जग में लाज हो तोरी॥
मिलै फगुआ शिव होरी॥ मेरो मन०॥

जीवन ही बदल डाला

[इस स्तंभ में उन आत्मार्थियों के महत्त्वपूर्ण पत्र प्रकाशित किये जायेंगे, जिनके जीवन में आध्यात्मिक रुचि आत्मधर्म के माध्यम से जगी है।]

'आत्मधर्म'—एक सच्चे मित्र की पूर्ति करनेवाली, अपूर्व शांति प्रदान करनेवाली, अनेक गुणों से युक्त, यह पत्रिका मेरी सर्वप्रिय पत्रिका है।

दुख के समय या अन्य किसी भी प्रकार का प्रतिकूल प्रसंग बनने पर यह मेरी सहचरी मुझे बहुत सुंदर संबोधती है; सांत्वना देती है; कहती है—

'संयोग नहीं पलटेगा, तुम्हारे लक्ष को पलट दो, तुम्हारा दु:ख संयोग के कारण नहीं है; किंतु अपने आनंद को भूलकर स्वयं तुमने ही मोह से दु:ख उत्पन्न किया है।'

[आत्मधर्म, सितंबर १९७५, पृष्ठ १०]

'तेरा शुद्ध या अशुद्ध परिणमन तुझसे ही है। ऐसा तू जान.....। यदि परद्रव्य ही तुझे जबरन अशुद्धता कराते हों, तो उस अशुद्धता से छूटने का अवसर कब आयेगा?'

[आत्मधर्म, अप्रेल १९७२, पृष्ठ २९]

और कहती है कि ''लोग तेरे को 'हठीला' 'हठीला' कहते हैं, तो भले कहो। किंतु हे हठी! तू क्षोभ मत करना (तू मेरे मार्ग को नहीं छोड़ना।)

छेला लोग तेरे को भी छेला पागल-सा कहें तो इससे तू क्षुब्ध नहीं होना। लोग कुछ भी कहें, तू तो मोह को उखाड़कर महान सिद्धिनगरी में प्रवेश करना।''

[आत्मधर्म, सितंबर १९७५, पृष्ठ ५]

''कितनी भी प्रतिकूलता हो, उसे सहन कर लेना; किंतु जैनधर्म को छोड़कर अन्यत्र कहीं मत जाना।''

[आत्मधर्म, तिसंबर १९७५, पृष्ठ ३४]

और कभी ऐसी भी शिक्षा देती है कि ''वाद-विवाद छोड़कर ऐसी आत्मवस्तु के विचार में और मंथन में रहेगा तो कोई अपूर्व वस्तु हाथ में आयेगी''.... ''यह मनुष्य जन्म कहीं भव बढ़ाने के लिये नहीं है, परंतु भव का अभाव करने के लिये है।''

[आत्मधर्म, जनवरी १९७३, पृष्ठ ८]

'मनुष्य भव पाकर भी यदि मोक्ष का उपाय नहीं किया तो तूने क्या किया ?'

[आत्मधर्म, दिसंबर १९७१, पृष्ठ १]

''चैतन्य की ऐसी महानता को भूलकर जगत के छोटे-मोटे प्रसंगों में उलझ जाना मुमुक्षु को शोभा नहीं देता। जहाँ आत्म-साधना का महान प्रयोजन है, वहाँ सांसारिक मान या अपमान, निंदा या प्रशंसा, अनुकूलता या प्रतिकूलता—इन किसी की कोई गिनती नहीं। आनंदमय आत्मा की साधना में जगत की ओर क्या देखना।''

इसप्रकार, इस सहचरी (पत्रिका) ने मुझे अनेकों प्रकार से समझाकर, मेरे हृदय को स्पर्श कर, अपूर्व बल प्रदान किया है। तथा मेरे जीवन की दिशा को मोड़कर सही मार्ग पर चलने की अद्‌भुत प्रेरणा दी है।

आत्मधर्म की पंक्ति-पंक्ति में अमृत भरा है। जितना अधिक चूसती हूँ; उतना ही रस आता जाता है तथा तत्काल ही शांति का अनुभव होता है।

आत्मा की महिमा की प्रसिद्धि करनेवाली इस आत्मधर्म पत्रिका की महिमा की प्रसिद्धि मैं किसप्रकार व किन शब्दों में करूँ, यह मेरी सामर्थ्य के बाहर है। आजकल तो 'संपादकीय', 'ज्ञान-गोष्ठी', सम्मानीय चम्पाबहिन के विचार-बिन्दु आदि स्तंभ मेरी ज्ञानवृद्धि में निमित्त बन रहे हैं। पूज्य स्वामीजी का यह धर्मप्रचार का महान उपकार जीवनपर्यंत अस्मरणीय रहेगा।

—सुधा वि० पाटनी : श्री विजयकुमारजी पाटनी, सदस्य, विधानसभा, गोलगंज, छिंदवाड़ा (म.प्र.)

सम्पादकीय

उत्तम तप

एक अनुशीलन

[गतांक से आगे]

जिन अंतरंग तपों के संबंध में बहुत भ्रांत धारणाएँ प्रचलित हैं, उनमें विनयतप भी एक है।

जब भी विनयतप की चर्चा चलती है, तब-तब वर्तमान में प्रचलित अनुशासनहीनता को कोसा जाने लगता है। नवीन पीढ़ी के विरुद्ध शिकायतें की जाती हैं। उन्हें उपदेश दिया जाने लगता है कि आज के बच्चों में विनय तो रही ही ही नहीं। ये लोग न अध्यापक के पैर छुएँगे, न माता-पिता के, आदि न जाने क्या-क्या कहा जाता है ?

मैं यह नहीं कहता कि माता-पिता की विनय नहीं करनी चाहिये। माता-पिता आदि गुरुजनों की यथायोग्य विनय तो की ही जानी चाहिये। मेरा कहना तो यह है कि माता-पिता की विनय, विनयतप नहीं है। क्योंकि तप मुनियों के होता है और मुनि बनने के पहले ही माता-पिता का त्याग हो जाता है।

माता-पिता आदि की विनय लौकिक विनय है और विनयतप में अलौकिक अर्थात् धार्मिक-आध्यात्मिक विनय की बात आती है।

विनयतप चाहे जहाँ माथा टेक देनेवाले तथाकथित दीन गृहस्थों के नहीं, पंचपरमेष्ठी के अतिरिक्त कहीं भी नहीं नमनेवाले मुनिराजों के होता है।

बिना विचारे जहाँ-तहाँ नमने का नाम विनयतप नहीं, वैनेयिकमिथ्यात्व है। विनय अपने-आप में अत्यंत महान आत्मिक दशा है। सही जगह होने पर जहाँ वह तप का रूप धारण कर लेती है, वहीं गलत जगह की गयी विनय अनंत संसार का कारण बनती है।

विनय सबसे बड़ा धर्म, सबसे बड़ा पुण्य एवं सबसे बड़ा पाप भी है। विनय तप के रूप में सबसे बड़ा धर्म, सोलह-कारण भावनाओं में विनयसंपन्नता के रूप में तीर्थंकर प्रकृति के

बंध का कारण होने से सबसे बड़ा पुण्य और विनयमिथ्यात्व के रूप में अनंत संसार का कारण होने से सबसे बड़ा पाप है।

विनय के प्रयोग में अत्यंत सावधानी आवश्यक है। कहीं ऐसा न हो कि आप जिसे विनयतप समझकर कर रहे हों, वह विनयमिथ्यात्व हो। इसका ध्यान रखिये कि कहीं आप विनयतप या विनयसंपन्नता भावना के नाम पर विनयमिथ्यात्व का पोषण कर अनंत संसार तो नहीं बढ़ा रहे हैं ?

विनय का यदि सही स्थान पर प्रयोग हुआ तो तप होने से कर्म को काटेगी, किंतु गलत स्थान पर प्रयुक्त विनयमिथ्यात्व होने से धर्म को ही काट देती है। यह एक ऐसी तलवार है जो चलाई तो अपने माथे पर जाती है और काटती है शत्रुओं के माथों को, पर सही प्रयोग हुआ तो। यदि गलत प्रयोग हुआ तो अपना माथा भी काट सकती है। अतः इसका प्रयोग अत्यंत सावधानी से किया जाना चाहिये।

अपना माथा कोई सड़ा नारियल नहीं जो चाहे जहाँ फोड़ दिया जाये। कहाँ झुकना और कहाँ नहीं झुकना—इसका भी जिसको विवेक नहीं है, वह सही जगह भी झुककर लाभ नहीं उठा सकता। क्योंकि विवेकपूर्वक किया गया आचरण ही सफल होता है। आचार्य समंतभद्र ने परीक्षा किये बिना आप्त को भी नमस्कार नहीं किया।

जिसने अपने माथे की कीमत नहीं की, उसकी जगत में कौन कीमत करेगा ? नमना, झूठी प्रशंसा करना आज व्यवहार बन गया है। मैं दूसरों की विनय या प्रशंसा करूँगा तो दूसरे मेरी विनय व प्रशंसा करेंगे—इस लोभ से नमनेवालों एवं प्रशंसा करनेवालों की क्या कीमत है ? अरे भाई ! जगत से क्या प्रशंसा चाहना ? भगवान की वाणी में जिसके लिये 'भव्य' शब्द भी आ गया वह धन्य है, इससे बड़ी प्रशंसा और क्या होगी ?

'क्या कहा ?'—इसकी कीमत नहीं; 'किसने कहा ?'—इसकी कीमत है। भगवान ने यदि 'भव्य' कहा तो इससे महान अभिनंदन और क्या होगा ? भगवान की वाणी में 'भव्य' आया तो मोक्ष प्राप्त होने की गारंटी हो गयी। पर इस मूर्ख जगत ने यदि भगवान भी कह दिया तो उसकी क्या कीमत ? स्वभाव से तो सभी भगवान हैं, पर जो पर्याय से भी वर्तमान में हमें भगवान कहता है, उसने हमें भगवान नहीं बनाया वरन् अपनी मूर्खता व्यक्त की है।

विनय बहुत ऊँची चीज़ है, उसे इतने नीचे स्तर पर नहीं लाना चाहिये। भाईसाहब! विनय तो वह तप है, जिससे निर्जरा और मोक्ष होता है, वह क्या चापलूसी से हो सकता है? नहीं, कदापि नहीं।

यदि मात्र चरणों में झुकने और नमस्ते करने का नाम विनयतप होता तो फिर देवता इसके लिये क्यों तरसते, उन्हें किसी के सामने नमने में क्या दिक्कत थी? फिर शास्त्रकार यह क्यों कहते हैं कि उनके तप नहीं है?

माँ-बाप के सामने झुकने का नाम तो विनयतप है ही नहीं, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के सामने झुकने का नाम भी निश्चय से विनयतप नहीं है-उपचारविनय है।

विनयतप चार प्रकार का होता है—(१) ज्ञानविनय, (२) दर्शनविनय, (३) चारित्रविनय और (४) उपचारविनय।

उपचारविनय में कुछ लोग माता-पिता आदि लौकिकजनों की विनय को लेते हैं, पर यह ठीक नहीं है।

ज्ञानविनय निश्चयविनय है और ज्ञानी की विनय उपचारविनय है, दर्शनविनय निश्चयविनय है और सम्यग्दृष्टि की विनय उपचारविनय है, चारित्र की विनय निश्चयविनय है और चारित्रवंतों की विनय उपचारविनय है। इसप्रकार ज्ञान-दर्शन-चारित्र की विनय निश्चयविनय और इनके धारक देव-गुरुओं की विनय उपचारविनय है।

विनयतप तपधर्म का भेद है, अतः इसका उपचार भी धर्मात्माओं में ही किया जा सकता है; लौकिकजनों में नहीं।

किसी के चरणों में मात्र माथा टेक देने का नाम विनयतप नहीं है। बाहर से तो मायाचारी जितना नमता है-हो सकता है असली विनयवान उतना नमता दिखायी न भी दे। यहाँ बाह्य विनय की बात नहीं, अंतरंग बहुमान की बात है; विनय अंतरंग तप है। बाहर में नमनेवालों की फोटो खींची जा सकती है, अंतरंग वालों की नहीं। ज्ञान-दर्शन-चारित्र के प्रति अंतर में अनंत बहुमान के भाव, उनकी पूर्णता को प्राप्त करने के भाव का नाम विनयतप है।

बाहर से नमनेरूप विनय तो कभी-कभी ही देखी जा सकती है, पर बहुमान का भाव

तो सदा रहता है। अतः ज्ञान-दर्शन-चारित्र के प्रति अत्यंत महिमावंत मुनिराजों के विनयतप सदा ही रहता है।

वैयावृत्यतप के संबंध में भी जगत में कम भ्रांत धारणाएँ नहीं हैं। तपस्वी साधुओं की सेवा करने, पैर दबाने आदि को ही वैयावृत्य समझा जाता है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि वैयावृत्ति करना तप है या कराना अर्थात् दूसरों के पैर दाबना तप है या दूसरों से पैर दबवाना तप है ? यदि पैर दाबना तप है तो फिर पैर दाबनेवाले गृहस्थ के तप हुआ, दबवानेवाले मुनिराज के नहीं; जबकि तपस्वी मुनिराज को कहा जाता है। ये बारह तप हैं भी मुख्यतः मुनिराजों के ही।

यदि आप यह कहें कि पैर दबवाना तप है तो फिर ऐसा तप किसे स्वीकार न होगा ? दूसरे हमारी सेवा करें और सेवा करवाने से हम तपस्वी हो जावें, इससे अच्छा और क्या होगा ?

बिना विचारे हम सब पैर दबाते आ रहे हैं और मानते आ रहे हैं कि हम वैयावृत्ति कर रहे हैं, इसका फल हमें अवश्य मिलेगा। साथ ही यह भी मानते आ रहे हैं कि वैयावृत्यतप मुनियों के होता है।

वैयावृत्ति का अर्थ सेवा होता है-यह सही है। पर सेवा का अर्थ पैर दबाना हमने लगा लिया है। वैयावृत्ति में पैर भी दबाये जाते हैं, पर पैर दबाना ही मात्र वैयावृत्ति नहीं है। सेवा स्व और पर दोनों की होती है। वास्तविक सेवा तो स्व और पर को आत्महित में लगाना है। आत्महित एकमात्र शुद्धोपयोगरूप दशा में है। शुद्धोपयोगरूप रहने के लिये निरंतर प्रयत्नशील रहना ही वास्तविक वैयावृत्ति है।

यदि रोग आदि के कारण अपना या दूसरे साथी मुनिराज का चित्त स्थिरता को प्राप्त न हो पा रहा हो तो 'पैर दबाना' आदि के द्वारा उनके चित्त को स्थिरता प्रदान करना भी वैयावृत्ति है; बिना किसी कारण आराम से पैर दबाते-दबवाते रहना कभी भी वैयावृत्ति नहीं हो सकती। और हो तो वह तप नहीं; अंतरंग तप तो कदापि नहीं।

यदि कोई मुनिराज भयंकर पीड़ा से कराह रहे हैं, उनका चित्त स्थिर नहीं हो पा रहा है; ऐसी स्थिति में उन्हें कोरा उपदेश देने पर उनके परिणामों में स्थिरता आना संभव नहीं है। पर यदि उनकी सेवा करते हुए उन्हें संबोधित किया जाये तो स्थिरता शीघ्र प्राप्त हो सकती है,

एकमात्र यही कारण है जिससे शारीरिक सेवा को वैयावृत्यतप में स्थान प्राप्त है।

विनय और वैयावृत्यतप के बारे में विचार करते समय हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि ये अंतरंग तप हैं, बाह्य प्रवृत्तिमात्र से इनको जोड़ना ठीक नहीं।

स्वाध्याय भी अंतरंग तप है। स्वाध्याय को परमतप कहा गया है (स्वाध्यायं परमं तपः)। पर आज तो हम प्रातः उठकर सबसे पहिले समाचार-पत्रों का स्वाध्याय करने लगे हैं।

यहाँ-वहाँ का कुछ भी पढ़ लेना स्वाध्याय नहीं है, आत्महितकारी शास्त्रों का अध्ययन-मनन-चिंतन भी उपचार से स्वाध्याय है। वास्तविक स्वाध्याय तो आत्मज्ञान का प्राप्त होना ही है। स्व+अधि+अय=स्वाध्याय। 'स्व' माने निज का, 'अधि' माने ज्ञान और 'अय' माने प्राप्त होना—इसप्रकार निज का ज्ञान प्राप्त होना ही स्वाध्याय है; पर का ज्ञान तो पराध्याय है।

यद्यपि स्वाध्याय के भेदों में वांचना, पृच्छना आदि आते हैं तथापि कुछ भी वाँचना, पूछना स्वाध्याय नहीं है। क्या वाँचना? कैसे वाँचना? क्या पूछना? किससे पूछना? कैसे पूछना? आदि विवेकपूर्वक किये गये वाँचन, पृच्छना आदि ही स्वाध्याय कहे गये हैं।

मंदिर में गये; जो भी शास्त्र हाथ लगा, उसी की—जहाँ से खुल गया दो चार पंक्तियाँ खड़े-खड़े पढ़ लीं और स्वाध्याय हो गया, वह भी इसलिए कि महाराज प्रतिज्ञा लिवा गये थे कि 'प्रतिदिन स्वाध्याय अवश्य करना'—यह स्वाध्याय नहीं है।

हमें आध्यात्मिक ग्रंथों के स्वाध्याय की वैसी रुचि भी कहाँ है जैसी की विषय-कषाय और उसके पोषक साहित्य पढ़ने की। ऐसे बहुत कम लोग होंगे जिन्होंने किसी आध्यात्मिक, सैद्धांतिक या दार्शनिक ग्रंथ का स्वाध्याय आद्योपांत किया हो। साधारण लोग तो बंधकर स्वाध्याय करते ही नहीं, पर ऐसे विद्वान भी बहुत कम मिलेंगे जो किसी भी महान ग्रंथ का जमकर अखंडरूप से स्वाध्याय करते हों। आदि से अंत तक अखंडरूप से हम किसी ग्रंथ को पढ़ भी नहीं सकते तो फिर उसकी गहराई में पहुँच पाना कैसे संभव है? जब हमारी इतनी भी रुचि नहीं कि उसे अखंडरूप से पढ़ भी सकें तो उसमें प्रतिपादित अखंड वस्तु का अखंड स्वरूप हमारे ज्ञान और प्रतीति में कैसे आवे?

विषय-कषाय के पोषक उपन्यासादि को हमने कभी अधूरा नहीं छोड़ा होगा, उसे पूरा

करके ही दम लेते हैं; उसके पीछे भोजन को भी भूल जाते हैं। क्या आध्यात्मिक साहित्य के अध्ययन में भी कभी भोजन को भूले हैं ? नहीं तो निश्चित समझिये हमारी रुचि अध्यात्म में उतनी नहीं जितनी विषय-कषाय में है।

'रुचि अनुयायी वीर्य' के नियमानुसार हमारी संपूर्ण शक्ति वहीं लगती है, जहाँ रुचि होती है। स्वाध्यायतप के उपचार को भी प्राप्त करने के लिये हमें आध्यात्मिक साहित्य में अनन्य रुचि जागृत करनी होगी।

स्वाध्यायतप के पाँच भेद किये गये हैं—

(१) वाँचना, (२) पृच्छना (पूछना), (३) अनुप्रेक्षा (चिंतन), (४) आम्नाय (पाठ), और (५) धर्मोपदेश।

इनमें स्वाध्याय की प्रक्रिया का क्रमिक विकास लक्षित होता है।

प्रथम, तत्त्वनिरूपक-आध्यात्मिक ग्रंथों को वाँचना और अपनी बुद्धि से जितना भी मर्म निकाल सकें, पूरी शक्ति से निकालना—यह 'वाँचना स्वाध्याय' है।

उसके बाद भी यदि कुछ समझ में न आवे तो समझने के उद्देश्य से किसी विशेष ज्ञानी से विनयपूर्वक पूछना—'पृच्छना स्वाध्याय' है।

जो वाँचा है उस पर तथा पूछने पर ज्ञानी महापुरुष से जो उत्तर प्राप्त हो, उस पर गंभीरतापूर्वक विचार करना, चिंतन करना—'अनुप्रेक्षा स्वाध्याय' है।

वाँचना, पृच्छना और अनुप्रेक्षा के बाद निर्णीत विषय की स्थिर धारणा के लिये बारंबार घोखना, पाठ करना - 'आम्नाय स्वाध्याय' है।

वाँचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और आम्नाय (पाठ) के बाद जब विषय पर पूरा-पूरा अधिकार हो जावे तब उसका दूसरे जीवों के हितार्थ उपदेश देना—'धर्मोपदेश' नाम का स्वाध्याय है।

उक्त विवेचन से निश्चित होता है कि मात्र वाँचना ही स्वाध्याय नहीं, आत्महित की दृष्टि से समझने के लिये पूछना भी स्वाध्याय है, चिंतन और पाठ भी स्वाध्याय है, यहाँ तक कि यशादि के लोभ के बिना स्व-पर-हित की दृष्टि से किया गया धर्मोपदेश भी स्वाध्यायतप में आता है।

पर इनमें एक क्रम है। आज हम उस क्रम को भूल गये हैं। हम शास्त्रों को वाँचे बिना ही पूछना आरंभ कर देते हैं। यही कारण है कि हमारे प्रश्न ऊटपटांग होते हैं। जब तक किसी विषय का स्वयं गंभीर अध्ययन नहीं किया जायेगा तब तक तत्संबंधित गंभीर प्रश्न भी कहाँ से आवेंगे ?

बहुत से प्रश्न दूसरों की परीक्षा के लिये भी किये जाते हैं। वे 'पृच्छना स्वाध्याय' में नहीं आते। जो निरंतर दूसरों की बुद्धि परखने के लिये ही प्रश्न उछाला करते हैं, उनको लक्ष्य करके महाकवि बनारसीदासजी ने लिखा है—

'परनारी संग परबुद्धि कौ परखिवौ'

(बनारसीदास : नाटक समयसार, साध्य-साधकद्वार, छंद २९)

प्रश्न अपनी जिज्ञासा शांत करने के लिये ही विनयपूर्वक किये जाने चाहिये। उद्दंडतापूर्वक वक्ता का गला पकड़ने की कोशिश करना स्वाध्यायतप तो है ही नहीं, जिनवाणी की विराधना का अधम कार्य है।

चिंतन तो हमारे जीवन से समाप्त ही हो रहा है। पाठ भी किया जाता है, पर बिना समझे मात्र दुहराना होता है; दुहराना भी सही रूप में कहाँ हो पाता है ?

भक्तामर और तत्त्वार्थसूत्र का नित्य पाठ सुननेवाली बहुत सी माता-बहिनों को उनमें प्रतिपादित विषयवस्तु की बात तो बहुत दूर, उसमें कितने अध्याय हैं—इतना भी पता नहीं होता है। किन्ही महाराज से प्रतिज्ञा ले ली है कि सूत्रजी का पाठ सुने बिना भोजन नहीं करूँगी—सो उसे ढोये जा रही हैं।

वास्तविक 'पाठ' तो वाँचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षापूर्वक होता है। विषय का मर्म ख्याल में आ जाने के बाद उसे धारणा में लेने के उद्देश्य से 'पाठ' किया जाता है।

उपदेश का क्रम सबसे अंत में आता है, पर आज हम उपदेशक पहिले बनना चाहते हैं—वाँचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और आम्नाय के बिना ही।

धर्मोपदेश के सुननेवाले भी इसके प्रति सावधान नहीं दिखायी देते। धर्मोपदेश के नाम पर कोई भी उन्हें कुछ भी सुना दे; उन्हें तो सुनना है, सो सुन लेते हैं। वक्ता और वक्तव्य पर उनका कोई ध्यान ही नहीं रहता।

मैं एक बात पूछता हूँ कि यदि आपको पेट का ऑपरेशन कराना हो तो क्या बिना जाने चाहे जिससे करा लेंगे ? डॉक्टर के बारे में पूरी-पूरी तपास करते हैं। डॉक्टर भी जिस काम में माहिर न हो, वह काम करने को सहज तैयार नहीं होता। डॉक्टर और ऑपरेशन की बात तो बहुत दूर; यदि हम कुर्ता भी सिलाना चाहते हैं तो होशियार दर्जी तलाशते हैं, और दर्जी भी यदि कुर्ता सीना नहीं जानता हो तो सीने से इंकार कर देता है। पर धर्म का क्षेत्र ऐसा खुला है कि चाहे जो बिना जाने-समझे उपदेश देने को तैयार हो जाता है और उसे सुननेवाले भी मिल ही जाते हैं।

वस्तुतः बात यह है कि धर्मोपदेश देने और सुनने को हम गंभीररूप से ग्रहण ही नहीं करते। यों ही हलके-फुलके निकाल देते हैं। अरे भाई! धर्मोपदेश भी एक तप है, वह भी अंतरंग; इसे आप खेल समझ रहे हैं। इसकी गंभीरता को जानिए—पहिचानिए। उपदेश देने-लेने की गंभीरता को समझिये, इसे मनोरंजन और समय काटने की चीज मत बनाइये। यह मेरा विनम्र अनुरोध है।

जिनवाणी के योग्य वक्ता तथा श्रोताओं का सही स्वरूप महापंडित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक के प्रथम अधिकार में विस्तार से स्पष्ट किया है। जिज्ञासु पाठक तत्संबंधी जिज्ञासा वहाँ से शांत करें।

स्वाध्याय एक ऐसा तप है कि अन्य तपों में जो लाभ हैं, वे तो इसमें हैं ही, साथ में यह ज्ञानवृद्धि का भी एक अमोघ उपाय है। इसमें कोई विशेष कठिनाई या प्रतिबंध भी नहीं हैं। चाहे जब कीजिए—दिन को, रात को; स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध-युवक सभी करें। एक बार नियमित स्वाध्याय करके तो देखिये, इसके असीम लाभ से आप स्वयं भली-भाँति परिचित हो जावेंगे।

प्रमाद व अज्ञान से लगे दोषों की शुद्धि के लिये आत्म-आलोचना, प्रतिक्रमणादि द्वारा प्रायश्चित्त करना प्रायश्चित्ततप है। बाह्याभ्यंतर परिग्रह के त्याग को व्युत्सर्गतप कहते हैं। इसकी विस्तृत चर्चा त्याग व आकिंचन धर्म में आगे विस्तार से होगी ही।

अब रही बात ध्यान की। सो ध्यान तो सर्वोत्कृष्ट तप है। ध्यान की अवस्था में ही सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है। यहाँ ध्यान से तात्पर्य आर्त्त-रौद्रध्यान से नहीं, शुभभावरूप

धर्मध्यान से भी नहीं; बल्कि उस शुद्धोपयोगरूप ध्यान से है जो कर्म-ईंधन को जलाने में अग्नि का काम करता है—जिसकी परिभाषा आचार्य उमास्वामी ने इसप्रकार दी है —

'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्' (तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ९, सूत्र २७)

वैसे तो दुकानदार ग्राहक का, डॉक्टर मरीज का, पति पत्नी का निरंतर ही ध्यान करते हैं। मात्र चित्त का एक ओर ही एकाग्र हो जाना ध्यानतप नहीं है वरन् 'स्व' में एकाग्र होना ध्यानतप है। भले ही पर में एकाग्र होना भी ध्यान हो, पर ध्यानतप नहीं। ध्यानतप तो समस्त 'पर' एवं विषय-विकारों से चित्त को हटाकर एक आत्मा में स्थिर होना ही है। यदि शुद्धोपयोगरूपध्यान की दशा एक अंतर्मुहूर्त भी रह जावे तो केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

समस्त तपों का सार ध्यानतप है, इसकी सिद्धि के लिये ही शेष सब तप हैं।

इस परम पवित्र ध्यानतप को पाकर सभी आत्मा शीघ्र परमात्मा बनें—इस पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ।

समयसार प्रवचन

परमाणनयनिक्षेप को न उद्योत अनुभव में दिखै

परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथराज 'समयसार' की अमृतचंद्राचार्यकृत 'आत्मख्याति' टीका के बीच-बीच में अनेक महत्त्वपूर्ण छंद आये हैं, जिन्हें कलश कहते हैं। गाथा १३वीं की टीका में समागत कलश नं० ९ पर हुए पूज्य कानजीस्वामी के प्रवचनों का संक्षिप्त सार यहाँ दिया जा रहा है।

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं।
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्॥
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
अनुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव॥९॥

आचार्यदेव शुद्धनय का अनुभव करके कहते हैं कि हम इन सर्व भेदों को गौण

करनेवाले शुद्धनय का विषयभूत चैतन्यचमत्कारमात्र तेजपुंज आत्मा का अनुभव होने पर नयों की लक्ष्मी उदय को प्राप्त नहीं होती, प्रमाण अस्त को प्राप्त हो जाता है, और न मालूम निक्षेपों का समूह कहाँ चला जाता है ? इससे अधिक क्या कहें ? द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता।

जब यह आत्मा विकल्प से छूटकर अखंड स्वभाव के बल से एकाग्ररूप से अंतरंग की ओर उन्मुख होता है, तब ऐसे किसी विचार का विकल्प नहीं रहता कि 'मैं आत्मा हूँ और आनंद का संवेदन करता हूँ।' यह केवली की बात नहीं है, किंतु चतुर्थ गुणस्थान के प्रारंभ होने पर जो स्थिति होती है, उसकी मुख्यता से यह बात है। मुनि को इस वस्तु-स्थिति का सहज अनुभव होता है, वहाँ इस उपदेश की आवश्यकता नहीं है।

आचार्यदेव छठे गुणस्थान में आकर सम्यग्दर्शन के लिये शुद्धनय के अनुभव की बात शिष्य से कह रहे हैं।

नवतत्त्व, नय-निक्षेप और प्रमाण के भेदरहित आत्मा का अनुभव करना सम्यग्दर्शन है। शुद्धनय श्रुतज्ञान का अंश है और उसका विषय ज्ञायकआत्मा है। प्रमाणादि के भेदरूप विचार छोड़कर शुद्धनय के विषयभूत चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मा का अनुभव हुआ, परंतु विकल्पदशा में आने पर कहते हैं—'अहो! शुद्धनय का विषय चैतन्यचमत्करमात्र है।' यद्यपि चैतन्य के साथ अन्य अनंतगुण भी रहते हैं, परंतु रागादि का अभाव बताने के लिये 'मात्र' शब्द का प्रयोग किया है।

सम्यग्दर्शन का विषय मात्रज्ञायकमूर्ति अखंड आत्मा है। उसकी सम्मुखता में रागादि और प्रमाणादि सभी भेद नजर नहीं आते।

अंतर्मुख होने पर नयों की लक्ष्मी उदित नहीं होती, द्रव्यार्थिकनय से त्रिकाली सामान्य हूँ और पर्यायार्थिक नय से विशेष हूँ; ऐसे रागमिश्रित विचार उत्पन्न नहीं होते।

पहले शुद्धनय कहा था, वह तो रागरहित नय की बात है। और यहाँ नयों की लक्ष्मी उदित नहीं होती—कहकर, रागवाले नय का अभाव कहा है।

एक बार भयंकर अकाल पड़ने से लोग एक-एक दाने को तरसने लगे। तब एक महिला ने असली मोतियों के बदले में अपने पिता से अनाज मांगा, किंतु पिता ने मोतियों के बदले अन्न का विनिमय नहीं किया। अन्न का मूल्य बढ़ जाने से सच्चे मोतियों का मूल्य भी गौण

हो गया। इसीप्रकार पूर्ण चिदानंदस्वरूपी आत्मस्वभाव की एकाग्रता होने पर नयों के विकल्परूप लक्ष्मी की कीमत घट गयी।

प्रमाण का विकल्प अस्त हो जाता है। 'मैं प्रमाता हूँ, ज्ञान प्रमाण है, और द्रव्य-गुण-पर्याय प्रमेय है'—ऐसे विकल्प अस्त हो जाते हैं। वास्तव में अंतर में तो सम्यक्प्रमाणज्ञान उत्पन्न हुआ है, परंतु भेदरूप प्रमाण का विचार अस्त हो गया है। सम्यक् अनुभव के समय प्रमाणादि के भेदरूप विकल्प का अभाव हो गया है। सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ तब प्रमाण संबंधी भेदरूप विकल्पों का अभाव हुआ।

अंतर में भाव-निक्षेप दशा उत्पन्न हुई है, नाम-स्थापना-द्रव्य और भाव—ऐसे मोह के विकल्प नष्ट हो गये हैं, रागमिश्रित विचार नहीं हैं। अंतर में अभेद दशा हुई अर्थात् भेदरूप विकल्प नहीं रहे। निक्षेपों का समूह कहाँ चला जाता है—इसका अर्थ यह है कि निक्षेप के लक्ष से राग उत्पन्न नहीं होता। अभेद की दृष्टि में भेद नहीं दिखता, इससे अधिक और क्या कहें ?

भेद, अभेद का कारण नहीं होता; इसीलिये जो शुद्धनय है सो अखंड ध्रुवस्वभाव को एकरूप लक्ष में लेकर अवस्था के लक्ष को गौण करता है। जैसे द्वार तक आने के बाद फिर द्वार को भीतर नहीं ले जाया जाता और मिष्ठान्न खाते समय तराजू-बाट पेट में नहीं डाले जाते; उसीप्रकार नवतत्त्व, नय और प्रमाण के रागमिश्रित विचार मनशुद्धि के भेद हैं, किंतु उन्हें साथ में लेकर शुद्धता में नहीं पहुँचा जा सकता।

द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता। 'द्रव्य सामान्य है और मैं पर्याय में उसका अनुभव करता हूँ, अथवा द्रव्य परिपूर्ण है और पर्याय अपूर्ण है'—ऐसा द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता।

वस्तु का निर्णय करने के लिये नवतत्त्व, प्रमाण-नय-निक्षेप के रागमिश्रित विचार काम में आते हैं, परंतु स्वभाव के अनुभव के समय उसमें भेद नहीं रहता। 'द्रव्य कूटस्थ है और पर्याय परिणमनशील है'—ऐसा द्वैत भी अनुभवकाल में भासित नहीं होता।

सम्यग्दर्शन के पूर्व और पश्चात् शुभराग होता है। व्यवहार-ज्ञान के बिना परमार्थज्ञान नहीं होता और उसके बिना सम्यक्त्व और चारित्र प्राप्त नहीं हो सकता; किंतु उससे लाभ या सहायता नहीं मिलती। नय-प्रमाण-निक्षेप और नवतत्त्व की विकल्परूप व्यवहारश्रद्धा, परमार्थ-श्रद्धा में सहायक नहीं है; जब तक ऐसी दृढ़ता नहीं होती तब तक सम्यग्दर्शन तो हो नहीं सकता, किंतु उसके यथार्थ आंगन तक भी नहीं पहुँचा जा सकता।

भेद को अत्यंत गौण करके कहा है कि प्रमाण-नय आदि के भेद की तो बात ही क्या, शुद्ध अनुभव होने पर द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता; एकाकार चिन्मात्र ही दिखायी देता है।

यह सातवें या तेरहवें गुणस्थान की बात नहीं है, यह अविरत सम्यग्दर्शन की बात है। प्रथम, सर्वज्ञ के आगमानुसार नवतत्त्व, नय-प्रमाण आदि के रागमिश्रित विचार आते हैं; परंतु अनुभव के समय वे भेद भासित नहीं होते। उपशम, क्षयोपशम या क्षायिक सम्यग्दर्शन प्रगट होते समय ऐसा अनुभव होता है।

यहाँ विज्ञानाद्वैतवादी तथा वेदांती कहते हैं कि अंत में तो परमार्थरूप अद्वैत का ही अनुभव हुआ, द्वित्व की भ्रांति का अभाव हुआ—यही हमारा मत है; आपने इसमें विशेष क्या कहा?

वेदांत सर्वव्यापी एक आत्मा को मानते हैं। कर्म नहीं, शरीर नहीं, गुण नहीं, पर्याय नहीं; मात्र एक ही वस्तु मानते हैं। उनका तर्क है कि आखिर तुमने भी एकाकार चिन्मात्र आत्मा स्वीकार किया और हम भी ऐसा ही करते हैं—तुमने विशेष क्या कहा? इसके उत्तर में कहते हैं कि आपके मत में सर्वथा अद्वैतरूप एक वस्तु मानी जाती है; यदि सर्वथा अद्वैत माना जाये तो बाह्य वस्तु का अभाव ही हो जाये और ऐसा अभाव तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

वर्तमान में कितने ही अज्ञानी जीव जैन-दर्शन और वेदांत को लगभग समान मानते हैं, परंतु दोनों में पूर्व और पश्चिम जितना अंतर है। सर्वज्ञ द्वारा कही गयी बात और अज्ञानियों द्वारा कही बात का मिलान ही नहीं होता। जगत में एक ही वस्तु माने और बाह्य वस्तु का सर्वथा अभाव ही माने तो ऐसा अभाव तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। एक जीव सच्ची मान्यता करता है, दूसरा जीव उल्टी मान्यता करता है—इसप्रकार भिन्न-भिन्न जीव दिखते हैं—इसीलिये बाह्य वस्तु का अभाव प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

जिनमत में नयविवक्षा है। वह बाह्य वस्तु का लोप नहीं करती—जीव-पुद्गलादि छह द्रव्य हैं, सात तत्त्व हैं, नव पदार्थ हैं, पंचास्तिकाय हैं। ज्ञानानंद एकस्वरूप आत्मा का अनुभव करते समय रागमिश्रित विचार मिट जाते हैं; परंतु आत्मा में अनंत गुण और पर्याय है तथा आत्मा के अतिरिक्त अन्य पदार्थ हैं, वे नष्ट नहीं हो जाते, मात्र भेद का विचार मिट जाता है।

नवतत्त्व, प्रमाण-नय-निक्षेप आदि के रागमिश्रित विचार आकुलता के कारण हैं; अतः उनके मिटने पर आनंद की प्राप्ति होती है। इसीलिये अनुभव कराने के लिये यह कहा है—'शुद्ध अनुभव में द्वैत भासित नहीं होता।'

यदि एक ही जीवतत्त्व हो तो एक में भूल क्या ? दुःख क्या ? और दुःख को दूर करने का उपाय भी क्यों किया जाये ? विश्व में अनंत वस्तुएँ स्वतंत्र और अनादि-अनंत हैं। द्वैत नहीं है—यह कहने का तात्पर्य यह है कि अपने स्वरूप में पर नहीं है। यदि सब एक हों तो कोई यह नहीं मान सकता कि मैं अलग हूँ। जो तुझसे अलग हैं उन्हें यदि शून्यरूप कहे तो वे सब शून्य होंगे, उनकी वाणी शून्य होगी और तत्संबंधी जो विचार जीव करता है वे भी शून्य होंगे तथा तेरी एकाग्रता भी शून्य होगी; इसप्रकार 'सर्व शून्यं' सिद्ध हो जायेगा; इसीलिये यह मान्यता मिथ्या है।

हम तो अपेक्षा से कहते हैं कि प्रत्येक आत्मा अपनी अपेक्षा से सत् है और पर की अपेक्षा से त्रिकाल असत् है। पर अपने-रूप नहीं है और स्वयं पर-रूप नहीं है। इसीलिये पर अपना कुछ कर सकता है या स्वयं पर का कुछ कर सकता है—ऐसा मानना बहुत बड़ी भूल है।

एक आत्मा में अनंतगुण और पर्यायें हैं। एक पर्याय में अनंत अविभाग प्रतिच्छेद हैं। आत्मा से अनंतगुणे परमाणु हैं। एक परमाणु में अनंत गुण हैं और उनकी अनंत पर्यायें हैं। एक पर्याय में अनंत अविभाग प्रतिच्छेद हैं। परंतु उन सभी का लक्ष्य छोड़कर, राग और भेद का भी लक्ष्य छोड़कर, अभेद आत्मा का अनुभव करने पर द्वैत भासित नहीं होता। परंतु जैसा तुम कहते हो वैसा एकांत अद्वैतवाद नहीं है। यदि बाह्य वस्तु का लोप किया जाये तो आत्मा का भी लोप हो जायेगा और शून्यवाद का प्रसंग आयेगा। इसलिए जैसा तुम कहते हो उसप्रकार से वस्तुस्वरूप की सिद्धि नहीं हो सकती। वस्तुस्वरूप की यथार्थ श्रद्धा बिना जो शुद्ध अनुभव किया जाता है, वह भी मिथ्यारूप है, शून्य का प्रसंग होने से तुम्हारा अनुभव भी आकाश-कुसुम के अनुभव के समान है।

यद्यपि ज्ञान निज से ही जानता है, किंतु यदि परवस्तु न हो तो उसे ज्ञान नहीं जान सकता। जगत में अनंत परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव हैं, उनकी अपने में नास्ति है; किंतु वे द्रव्य अपने आप में त्रिकाल अस्तिरूप हैं। यदि ऐसा न माना जाये और यही माने कि एक आत्मा ही है तो ज्ञान मिथ्या सिद्ध होता है। गुण को मिथ्या कहने पर गुणी (आत्मा) मिथ्या सिद्ध हो जायेगा; इसप्रकार शून्यवाद का प्रसंग आयेगा।

जब निश्चय स्वभाव के बल से जीव स्वाश्रय में स्थिर होता है तब अभेद अनुभव में

नवतत्त्व, प्रमाण, नय और निक्षेप के रागमिश्रित विचार का भेद भी नहीं रहता—यह कहकर सर्वज्ञ वीतराग के मत में अद्वैतपन कहा है; 'पर' नहीं है, ऐसा नहीं कहा। अनेकत्व प्रत्यक्ष ध्यान में आता है; उसे जो अवस्तु कहता है, उसका ज्ञान और अनुभव दोनों मिथ्या सिद्ध होते हैं। अपनी कल्पना के अनुसार वस्तु को चाहे जैसा मानकर यदि शुद्धता का अनुभव करना चाहे तो वह नहीं हो सकता। इसीलिये वीतराग के न्यायानुसार वस्तुस्वरूप को यथार्थतया जानना चाहिये।

यदि कोई कहे कि इंद्रियाधीन ज्ञान में अभी कुछ दूसरा ही दिखायी देता है; ज्यों-ज्यों ऊपर की भूमिका पर जाते हैं, त्यों-त्यों अन्य प्रकार दिखायी देता है और सर्वज्ञ होने के बाद निश्चय से एक अद्वैत ही दिखायी देता है; तो ऐसी मान्यता भी बिल्कुल मिथ्या है। वर्तमान अपूर्ण ज्ञान में सम्यग्दृष्टि को जगत में रहनेवाले सर्व परद्रव्यों की तथा अपने स्वतंत्र स्वरूप की यथार्थ श्रद्धारूप सच्ची पहिचान होती है। सर्वज्ञ भगवान अपने पूर्ण ज्ञान में जैसा जानते हैं—वैसा ही अल्पज्ञ अपने वर्तमान निर्मल ज्ञान से प्रथम भूमिका से ही जानता है; उसमें किंचित् मात्र भी विपरीत नहीं जानता; किंतु मन के अवलंबन सहित जानने के कारण परोक्ष-प्रत्यक्ष का अंतर होता है, किंतु सर्वज्ञ के ज्ञान से विपरीत ज्ञातृत्व नहीं होता। यह मानना मिथ्या है कि ज्यों-ज्यों भूमिका बढ़ती है, त्यों-त्यों अलग जानता है और जब केवलज्ञान होता है, तब पूर्ण अलग जानता है।

ज्ञान का स्वभाव स्व-पर-प्रकाशक है। उसकी जगह कोई यह माने कि ज्ञान में जहाँ तक अनेकता ज्ञात होती है, वहाँ तक द्वैतपन का भ्रमरूप दोष है, इसीलिये यदि उस द्वैत के ज्ञातृत्व को दूर कर डालूँ तो मैं अखंड अकेला रहूँ और अद्वैत का अनुभव हो; यों मानकर हठयोग द्वारा जड़देह की क्रिया से ज्ञान को प्रगट करना चाहता है—वह विकास को रोककर मूढ़ता का अभ्यास करता है और धर्म के नाम पर अज्ञान का सेवन करता है—वह दया का पात्र है।

समयसार की प्रत्येक गाथा में से चैतन्यमणि रत्नों के अद्भुत नयाय-निर्झर बहते हैं। इन्हें समझ लेने पर पूर्ण समाधान हो जाता है। ज्ञान के प्रतीति भाव से वर्तमान में मोक्ष है और सर्वज्ञ भगवान तीर्थंकरदेव के श्रीमुख से निकले हुए परमतत्त्व के बोध को सत्-समागम से ग्रहण करे तो उसको मोक्षरत्न की प्राप्ति होती है।

**

षट्द्रव्य या तत्त्वार्थ

परमपूज्य दिगंबर आचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध परमागम 'नियमसार' की नौवीं गाथा पर हुए पूज्य कानजीस्वामी के प्रवचनों का सार यहाँ दिया जा रहा है। मूल गाथा इसप्रकार है —

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता॥९॥

विविध गुण-पर्यायों से युक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—ये तत्त्वार्थ कहे हैं।

सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य कोई भी छह द्रव्यों को भिन्न-भिन्न नहीं जान सकता और उनके गुण-पर्यायों की व्याख्या भी अन्यत्र नहीं मिल सकती। छहों द्रव्य निज-निज गुण-पर्यायों सहित हैं, किसी के गुण-पर्याय किसी दूसरे के कारण नहीं हैं।

(१) जगत में जीव अनंत हैं। सिद्ध भगवान अनंत हैं। आलू आदि कन्दमूल के एक-एक टुकड़े में असंख्य औदारिक शरीर और एक-एक शरीर में सिद्धों से अनंतगुने जीव हैं। यह बात तो जीवतत्त्व की व्यवहारश्रद्धा में आ जाती है।

(२) जीव से अनंतगुने पुद्गलकाय हैं। जगत में वस्तु सत् है। 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या'— ऐसा नहीं है।

(३) धर्मास्तिकाय नाम का एक द्रव्य है जो संपूर्ण लोक में व्यापक है। वह जीव और पुद्गल की गति में निमित्त है।

(४) अधर्मास्तिकाय भी लोक में व्यापक एक द्रव्य है। गति करते हुए जीव और पुद्गल जब स्थिर होते हैं, तब उनको यह द्रव्य निमित्त होता है।

(५) काल नाम के असंख्य द्रव्य लोक में हैं। वे द्रव्यों के परिणमन में निमित्त होते हैं।

(६) आकाश नाम का एक द्रव्य है और वह सर्वव्यापक है।

यह छहों द्रव्य तत्त्वार्थ हैं और वे सभी अपने-अपने गुण-पर्यायों सहित हैं। प्रत्येक

द्रव्य स्वयं त्रिकाली शक्तिवाला और समय-समय की विविध पर्यायवाला है। किसी अन्य के कारण उनके गुण और पर्यायें नहीं हैं। उंगली चलती है वह पुद्गल की पर्याय है। पुद्गल स्वयं अपनी विविध पर्यायवाला है। किसी दूसरे के कारण उसकी पर्याय नहीं होती।

इस गाथा में मतिज्ञानादि को विभावगुण कहेंगे। गुण में शुद्धगुण और विभावगुण ऐसे दो प्रकार से कहेंगे। मूल सूत्र में 'विविध गुण-पर्याय सहित' ऐसा आचार्यदेव ने कहा है। उसमें से 'कारणशुद्धजीव' और कार्यशुद्धजीव' इत्यादि का अद्भुत वर्णन टीका में करेंगे। यहाँ गाथा में छह द्रव्यों के पृथक्-पृथक् नाम कहे गये हैं।

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, वचन, काय, आयु तथा श्वासोच्छ्वास नाम के दश प्राणों से (संसारदशा में) जो जीता है, जियेगा और पूर्व में जीता था, वह 'जीव' है।

जो जीव स्वभाव का भान नहीं करते उन्हें दश प्राणों का संयोग भविष्य में भी रहेगा। जो स्वभाव का भान करके सिद्ध हो जाते हैं, उनके दश प्राणों का अभाव हो जाता है। संग्रहनय की अपेक्षा से जो दश प्राणों से जीवे उसे जीव कहा, परंतु यह दश प्राण जीव के स्वभाव नहीं हैं।

निश्चय से तो भावप्राण धारण करने से जीव है। यह भावप्राण त्रिकाल है, उससे जीता है, इसलिये जीव है।

व्यवहार से द्रव्यप्राण धारण करने के कारण जीव है। व्यवहारप्राण के संयोग के समय भी निश्चयचैतन्यप्राण का अभाव नहीं हो जाता।

शुद्धसद्भूतव्यवहार से केवलज्ञानादि शुद्धगुणों का आधार होने के कारण 'कार्यशुद्धजीव' है।

शुद्धसद्भूतव्यवहार से जो जीव केवलज्ञानादि शुद्धगुणों का आधार है अर्थात् कारणशुद्धजीव में से जिसने केवलज्ञानादि शुद्धकार्य प्रकट किया है, उसे यहाँ कार्यशुद्धजीव कहा है। यहाँ पर्याय की बात है, त्रिकाली की बात नहीं; क्योंकि यह शुद्धसद्भूतव्यवहार का विषय है। केवलज्ञानादि पर्याय को यहाँ शुद्धगुण कहा है।

केवलज्ञानपर्याय भी व्यवहार है। वह भी नवीन प्रकट होती है, त्रिकाल नहीं है। शुद्धचिदानंद अखंड परिपूर्ण भगवान आत्मा वह निश्चय है और उसके अवलंबन से जो केवलज्ञानादि प्रकट हुआ वह शुद्धसद्भूतव्यवहार है। केवलज्ञानादि शुद्धपर्याय है, इसलिये

'शुद्ध' है, अपनी पर्याय है इसलिये 'सद्भूत' है और भेद पड़ा इसलिये 'व्यवहार' है। इसप्रकार केवलज्ञान को 'शुद्धसद्भूतव्यवहार' कहा गया है। ऐसा केवलज्ञान जिसको प्रकट हुआ वह जीव 'कार्यशुद्धजीव' है। यह उत्पाद है—नवीन पर्याय प्रकट हुई है। केवलज्ञानपर्याय को यहाँ शुद्धगुण कहा गया है। ऐसे शुद्धगुण का जो आधार है उस जीव को यहाँ 'कार्यशुद्धजीव' कहा गया है।

अशुद्धता वह संसारपर्याय है, अल्पशुद्धता वह मोक्षमार्गपर्याय है, और पूर्णशुद्धता वह मोक्षपर्याय है—इसप्रकार यह तीनों ही व्यवहार हैं।

जीव के वर्णन में तीन प्रकार बतलाये—

(१) दश प्राणों से जीवे वह जीव, यह व्यवहार है।

(२) भावप्राण अर्थात् चैतन्यप्राण से जीवे वह जीव, यह निश्चय है।

(३) केवलज्ञानादि प्रकट हुए उनका आधार जीव है। उसे 'कार्यशुद्धजीव' कहते हैं—यह 'शुद्धसद्भूतव्यवहार' है। त्रिकाल एकरूप आनंदकंद शक्ति का पिंड वह 'कारणशुद्धजीव' है, उसकी बात आगे आयेगी।

प्रत्येक जीव शक्तिअपेक्षा शुद्ध है अर्थात् सहज ज्ञानादिसहित है, अतः प्रत्येक जीव 'कारणशुद्धजीव' है। जो कारणशुद्धजीव की भावना करता है, उसका ही आश्रय करता है, वह व्यक्तिअपेक्षा भी शुद्ध अर्थात् 'कार्यशुद्धजीव' (केवलज्ञानादिसहित) होता है। शक्ति में व्यक्ति होती है, अतः शक्ति कारण है और व्यक्ति कार्य है; ऐसा होने से शक्तिरूप शुद्धतावाले जीव को 'कारणशुद्धजीव' कहते हैं और व्यक्तशुद्धतावाले जीव को 'कार्यशुद्धजीव' कहते हैं। कारणशुद्ध अर्थात् कारणअपेक्षा से शुद्ध–शक्तिअपेक्षा से शुद्ध। कार्यशुद्ध अर्थात् कार्यअपेक्षा से शुद्ध–व्यक्तअपेक्षा से शुद्ध।

जो त्रिकाल चिदानंद कारणशुद्धजीव की भावना करता है, उसमें श्रद्धा–ज्ञान–रमण करता है, उस जीव को केवलज्ञानादि शुद्धकार्य प्रकट होते हैं अर्थात् वह कार्यशुद्धजीव हो जाता है।

अंतर में अनादि अनंत एकरूप सदृश स्वभाव है, वह कारणपरमात्मा है और उसके आश्रय से पूर्णदशा प्रकट होती है, वह कार्यपरमात्मा है। केवलज्ञानादि शुद्धपर्यायवाले जीव

कार्यशुद्धजीव हैं। ऐसे जीव होते हैं, इसप्रकार प्रतीति करना वह तो अभी व्यवहारश्रद्धा है। केवलज्ञान प्रकट हुआ वह नवीन दशा है–व्यवहार है, और उसके कारणरूप शुद्धचैतन्य स्वरूप जो त्रिकाल ध्रुव है वह कारणशुद्धजीव है। देखो, यह है अमृत! यही है भव्य जीवों के कानों में अमृत उँड़ेलने जैसी सरस मधुर बात।

सिद्धभगवान तथा अरिहंत भगवान दोनों ही कार्यपरमात्मा हैं, उन्हें कार्यशुद्धजीव कहते हैं, और उसके कारणरूप जो त्रिकाली स्वभाव एकरूप है, वह कारणपरमात्मा है, यहाँ उसे कारणशुद्धजीव कहते हैं। जहाँ परमात्मा का वर्णन था वहाँ परमात्मा में कारण–कार्य स्थापित किया था और यहाँ जीव का वर्णन हैं, अत: जीव में शुद्धकारण और शुद्धकार्य स्थापित किया है। कैसी अलौकिक और अपूर्व बात है।

छह द्रव्यों में से यह जीवद्रव्य का वर्णन चलता है। उसके कितने प्रकार कहे—

(१) द्रव्यप्राण से जिया, जीता है और जीवेगा वह जीव, ऐसे प्रथम सामान्य बात की है।

(२) भावप्राण से जीता है वह निश्चय, तथा द्रव्यप्राणों से जीता है, वह व्यवहार है।

(३) कार्यशुद्धजीव वह है – जिसने अंतर के कारणशुद्धजीव का अवलंबन लेकर केवलज्ञानादि शुद्धकार्य प्रकट किया है।

ऐसे कार्यशुद्धजीव जगत में अनंत हैं। अनादिकाल से जगत में ऐसे अनंत जीव हैं, वे कार्यशुद्धजीव हैं और उसका कारण ध्रुवस्वभाव है वह कारणशुद्धजीव है, उसी के आश्रय से मोक्षमार्ग और केवलज्ञानादि प्रकट होते हैं।

उपरोक्त प्रकारों की श्रद्धा होने पर जीवतत्त्व की श्रद्धा हुई, ऐसा कहा जायेगा। त्रिकाली शक्ति कारण है और उस कारण में से ही कार्य प्रकट होता है, इसलिये उसे कारणशुद्धजीव कहा जाता है और उसके आश्रय से केवलज्ञान प्रकट होता है, वह कार्यशुद्धजीव है।

यहाँ निश्चयमोक्षमार्ग को भी परमात्मदशा का कारण नहीं कहा क्योंकि वह अधूरी दशा है, उसके आश्रय से परमात्मदशा प्रकट नहीं होती। कारणशुद्धजीव तो शक्तिरूप से सदा विद्यमान है, उसमें से जो व्यक्ति हुई वह कार्यशुद्धजीव है। कारण अर्थात् शक्ति और कार्य अर्थात् व्यक्ति।

आगम में ऐसे जीवतत्त्व का वर्णन किया है। केवलज्ञान–दर्शनादि चतुष्टय जिसके

प्रकट हो गये हैं, वह कार्यशुद्धजीव है। पूर्णदशा प्राप्त आत्मा को भी 'जीव' कहा जाता है। अधूरी दशावाले को जीव और पूर्णदशावाले को आत्मा कहा जाये, ऐसा भेद नहीं है। पूर्ण को जीव भी कहते हैं और अधूरे को आत्मा भी कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जीव और आत्मा कहीं भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। पूर्णदशा प्रकट हुई उसको यहाँ कार्यशुद्धजीव कहा है।

अब मतिज्ञानादि विभावगुणों का आधार वह 'अशुद्धजीव' है और शुद्धनिश्चय से सहजज्ञानादि परमस्वभाव गुणों का आधार होने से कारणशुद्धजीव है-यह बात कहेंगे।

आप्त, आगम और तत्त्व की श्रद्धा व्यवहारसम्यक्त्व है। उसमें से यह तत्त्वों का वर्णन चल रहा है। व्यवहारसम्यग्दर्शन के वर्णन में साथ ही निश्चयसम्यग्दर्शन का स्वरूप भी आ जाता है। सर्वज्ञ भगवान अठारह दोषरहित हैं, उनकी वाणी वीतरागी है, उस वाणी में जीवादितत्त्व कहे हैं, जिसमें से यह जीवतत्त्व का वर्णन है।

जीव कैसा है ? संग्रहनय से सभी संसारी जीवों को लक्ष करके ऐसा कहा कि दश प्राणों से जो जीता है, जिया है और जीवेगा वह जीव है—इसमें सिद्ध सम्मिलित नहीं हैं। संसारदशा में आत्मा के इंद्रिय, मन, शरीरादि का संयोग होता है, उनसे आत्मा जीता है—ऐसा संग्रहनय का कथन है। दश प्राण तो जड़ है, किंतु जीव उनके संयोग में रहता है इसलिये दश प्राण से जीवित है वह 'जीव'—ऐसा उपचार से कहा जाता है। यह संसारी जीवों की बात है।

निश्चय से भावप्राण को धारण करने के कारण जीव है। यह बात समस्त जीवों पर लागू पड़ती है। वास्तव में आत्मा जड़प्राणों को धारण नहीं करता क्योंकि वह तो अमूर्तिक चैतन्य है, और शरीरादि जड़ मूर्तिक हैं—उनसे आत्मा भिन्न है। आत्मा तो अपनी भावेन्द्रियों को धारण करता है, आत्मा अरूपी चैतन्यसत्ता को धारण करके जीवित है इसलिये जीव है। प्रथम ही ऐसे जीव का ज्ञान करना चाहिये।

धर्म का अर्थ क्या ? पर्याय में जो अधर्मभाव है, उसे टाल कर निर्मलदशा प्रकट करना उसका नाम धर्म है। वह धर्म कैसे हो ? शरीरादि वह मैं हूँ—ऐसी मान्यता अधर्म है और देहादि से भिन्न चैतन्यस्वरूप भावप्राण वाला आत्मा है—ऐसा पहचानना वह प्रथम धर्म है।

निश्चय से ज्ञानदर्शनमय भाव ही आत्मा का प्राण है। आत्मा अपने भाव से ही टिका हुआ है, कहीं पर के भाव से वास्तव में नहीं टिका है। इंद्रियादि तो संयोगी वस्तुएँ हैं, उनका तो

वियोग हो जाता है; किंतु आत्मा के चैतन्यप्राण का वियोग कभी होता नहीं—ऐसा जाने बिना विपरीत मान्यता टलती नहीं और सम्यग्ज्ञान होता नहीं अर्थात् धर्म होता नहीं।

वस्तु का जैसा स्वरूप है, वैसे स्वरूप में ज्ञान को ले जाना न्याय कहलाता है अर्थात् सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सर्वज्ञदेव ने जगत में छह द्रव्य देखे हैं। उनमें से यह जीवद्रव्य का वर्णन चल रहा है।

(१) जीव दश प्राणों से जीता है ऐसा कहना वह संग्रहनय है।

(२) निश्चय से चैतन्यरूप भावप्राण से जीता है।

(३) व्यवहार से द्रव्यप्राणों से जीता है, द्रव्यप्राण तो जड़ हैं, उनसे आत्मा जीता है; ऐसा कहना, वह उपचार है।

(४) शुद्धसद्भूतव्यवहार से केवलज्ञानादि शुद्धगुणों का आधार होने के कारण कार्यशुद्धजीव है।

जिसके केवलज्ञानादि शुद्धकार्य प्रकट हो गया है, उसे कार्यशुद्धजीव कहते हैं। अशरीरी परम आनंदमय दशा जिन्हें प्रकट हुई ऐसे सिद्ध भगवान कार्यशुद्धजीव हैं। अशरीरी सिद्धत्व कहीं अनादि-अनंत नहीं है, वह तो नवीन प्रकट होता है अर्थात् वह कार्य है। आत्मा अनादि-अनंत है परंतु उसकी सिद्ध दशा नयी प्रकट होती है, अतः वह व्यवहार है। पहले वह दशा नहीं थी और अब नयी प्रकट हुई—ऐसा भेद पड़ा इसलिये व्यवहार है। वह शुद्धदशा है इसलिये उसे शुद्ध कहा तथा वह अपनी पर्याय का भाव है इसलिये उसे सद्भूत कहा —इसप्रकार शुद्धसद्भूतव्यवहार है। उस शुद्धसद्भूतव्यवहार से सिद्ध भगवान का जीव 'कार्यशुद्धजीव' है। कार्यशुद्धजीव अनादि-अनंत नहीं है किंतु नयी दशा प्रकट हुई है इसलिये वह शुद्धसद्भूतव्यवहारनय का विषय है।

यहाँ कार्यशुद्धजीव को शुद्धसद्व्यवहार क्यों कहा? इसलिये कि वह सादि अनंत पर्याय है, त्रिकाल नहीं—अतः उसे व्यवहार कहा है। इसको ऐसा मत समझना कि 'कारणशुद्धजीव' और 'कार्यशुद्धजीव' के दो भेद पड़ जाने के कारण उसे व्यवहार कहा गया है, कारण कि 'कारणशुद्धजीव' तो निश्चयनय का ही विषय है और जो कार्य प्रकट हुआ वह नया प्रकट हुआ है इसलिये कार्यशुद्धजीव को व्यवहार कहा है।

कार्यशुद्धजीव अर्थात् सिद्ध भगवान। यह कार्य पहले नहीं था किंतु नया प्रकट हुआ है, यह कार्य आत्मा के शुद्धस्वभाव के अवलंबन से प्रकट हुआ है। ऐसे जीव को पहचाने बिना अनादि से शरीरादि को अपना मानकर यह जीव संसार में भटक रहा है। इसलिये वह शरीरादि दश प्राणों से जीता है, ऐसा उपचार से कहा गया है।

यहाँ केवलज्ञानादि को शुद्धगुण कहा है, वास्तव में तो केवलज्ञान पर्याय है—गुण नहीं, किंतु वह निर्मलपर्याय होकर गुण में अभेद हो गयी है इसलिये उसे शुद्धगुण कहा है। ऐसा शुद्धगुण जिसको प्रकट हुआ है, उस जीव को कार्यशुद्धजीव कहते हैं।

यह तो साध्यदशावाले जीव की बात की–अब साधकदशावाले जीव की बात करते हैं।

अशुद्धसद्भूतव्यवहार से मतिज्ञानादि विभावगुणों का आधार होने के कारण 'अशुद्धजीव' है।

जिसको आत्मा का भान हुआ है किंतु अभी केवलज्ञान नहीं हुआ है अर्थात् मति–श्रुत–ज्ञान ही वर्त रहा है, उसके मति–श्रुतज्ञान को भी यहाँ विभावगुण कहा है। यहाँ 'अर्थपर्याय' को गुण कहा है। सम्यक् मति–श्रुतज्ञान भी अभी परिपूर्ण नहीं है, इस अपेक्षा से उसे अशुद्ध कहा है, और वह अपनी पर्याय का भाव है इसलिये सद्भूत है, भेद है इसलिये व्यवहार है। इस भाँति अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय से आत्मा मतिज्ञानादि विभावगुणों का आधार होने से अशुद्धजीव है। आत्मा के भानसहित अवधि–मन:पर्ययज्ञान प्रकट हो वह भी विभावगुण है। ऐसे विभावगुण को जो धारण करता है, उस जीव को अशुद्धजीव कहा है। यह साधक जीव की बात है। यहाँ साधक जीव को भी 'अशुद्धजीव' कहा है। अशुद्ध तो वास्तव में पर्याय है किंतु वह पर्याय जीव की है, अत: जीव को भी 'अशुद्धजीव' कहा गया है। अज्ञानी जीव भी अशुद्धजीव में ही आ जाता है।

शुद्धचैतन्यस्वभाव का भान है, उसके आश्रय से जितनी शुद्धता प्रकट हुई है, उतना ही मोक्षमार्ग है, अर्थात् जितना विभाव है, वह मोक्षमार्ग नहीं है। अभी ज्ञानादि अधूरे हैं वे विभाव हैं, ऐसे विभावज्ञान वर्त रहे होने पर भी अभी जिसे शुद्धकार्य प्रकट नहीं हुआ है ऐसे जीव को यहाँ अशुद्धजीव कहा है। जिसको पूर्ण कार्य प्रकट हो गया वह कार्यशुद्धजीव है। अवस्था में विभाव है, परंतु धर्मी को त्रिकालस्वभाव के भानसहित विभावदशा का ज्ञान है—ऐसे साधक को भी यहाँ अशुद्धजीव कहा है। शुद्ध निश्चयनय से सहजज्ञानादि परमस्वभावगुणों का आधार

होने के कारण 'कारणशुद्धजीव' कहा है। पहले मात्र 'निश्चय' कहा था—यहाँ 'शुद्धनिश्चय' कहा है।

शरीरादि तो जड़ है, पुण्य-पाप विकार है, एकसमय की अवस्था भी क्षणिक है; उन सबसे पार जो टंकोत्कीर्ण शाश्वत् एकरूप शुद्धस्वभाव है, उसको यहाँ कारणशुद्धजीव कहा है। ऐसे जीव की श्रद्धा करने से ही सम्यग्दर्शन होता है। कारणशुद्धजीव ही केवलज्ञानादि कार्य प्रकट होने का आधार है। यह कारणशुद्धजीव तो अनादि-अनंत एकरूप है और वह शुद्धनिश्चयनय का विषय है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग तथा मोक्षदशा किसके आधार से प्रकट हो ? परमस्वभावगुणों का आधार जो शुद्धकारणजीव है, उसी के आधार से सम्यग्दर्शन और केवलज्ञानादि प्रकट होते हैं।

जैसे अग्नि प्रकट होने की शक्ति दियासलाई की तीली में नहीं है, अपितु उसके अग्रभाग की टोपी में है; वैसे ही केवलज्ञान ज्योति प्रकट होने की शक्ति शरीरादि में या पुण्य-पाप में नहीं है; किंतु ध्रुव चैतन्यबिंब कारणपरमात्माशुद्धजीव है, उसी में अनंत केवलज्ञान पर्यायें प्रकट होने की शक्ति है। उसी की प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है। आत्मा में शुद्धकार्य प्रकट होने का कारण ध्रुवचिदानंदशक्ति है-वही कारणशुद्धजीव है, उसकी प्रतीति बिना कभी धर्म होता नहीं। प्राप्त की ही प्राप्ति होती है अर्थात् शक्ति में ताकत भरी है, उसमें से ही प्रकट होती है। शक्तिरूप में त्रिकाल पूर्णस्वभाव है, वह कारणशुद्धजीव है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता के बल से जिसे केवलज्ञानादि प्रकट हुआ है, वह कार्यशुद्धजीव है। उस कारणशुद्धजीव की श्रद्धा-ज्ञान करके जिनको अभी साधकदशा वर्त रही है, किंतु पूर्णदशा को प्राप्त नहीं हुये हैं, उन्हें अशुद्धजीव कहते हैं। जड़प्राणों से जो जीता है, उसे जीव कहना—यह तो उपचार कथन है।

शुद्धनिश्चय से आत्मा त्रिकाल एकरूप सहज स्वाभाविक गुणों का आधार है; ऐसा आत्मा कारणशुद्धजीव है। अपूर्ण और पूर्णदशारूप भेद कारणशुद्धजीव में नहीं है—वह तो त्रिकाल एकरूप है।

यहाँ केवलज्ञानादि पर्याय को शुद्धगुण कहा तथा मतिज्ञानादि पर्याय को विभावगुण कहा; उसीप्रकार यहाँ जो 'परमस्वभावगुण' शब्द का प्रयोग ऊपर की पंक्तियों में किया गया है, वह भी सहजपर्याय के लिये किया गया हो—ऐसा ध्वनित होता है।

कारणशुद्धजीव त्रिकाल है, उसके आधार से जो केवलज्ञान दशा प्रकट हुई वह कार्यशुद्धजीव है। और जिसको अभी वैसी पूर्ण दशा नहीं प्रकट हुई, कारणशुद्धजीव की प्रतीति की है, और अभी मतिज्ञानादि विभावदशा वर्त रही है—उसे अशुद्धजीव कहा गया है। इन तीन प्रकारों में से कारणशुद्धजीव की प्रतीति करना ही निश्चयसम्यग्दर्शन है।

सिद्धपर्याय प्रकट हुई वह कार्य है। वह कार्य कहाँ से प्रकट हुआ? प्रत्येक आत्मा सहजस्वभाव शक्ति का भंडार 'कारणशुद्धजीव' है, वही अनंतसिद्धपर्यायों के प्रकट होने का कारण है, और उसकी श्रद्धा-ज्ञान-रमणता ही मोक्षमार्ग है।

प्रत्येक द्रव्य विविध गुण-पर्यायों सहित है—ऐसा मूल सूत्र में कहा है। उसमें से मुनिराज ने अद्भुत टीका की है।

जीव की छह बोलों से पहचान करवायी है। वह निम्न प्रकार है —

(१) संयोगी दशप्राणों से टिका रहे वह जीव—ऐसा कहना उपचार है।

(२) निश्चय से जो पर से नहीं, किंतु अपने चैतन्यप्राण से टिका है—वह जीव है।

(३) द्रव्यप्राणों से टिका है, वह जीव है, यह संयोग का कथन है—इसलिये व्यवहार है।

(४) केवलज्ञानरूप वर्तमान शुद्धकार्य प्रकट हुआ उसका आधार जीव है—इसलिये कार्यशुद्धजीव है।

(५) कारणशुद्धजीव त्रिकालशक्तिरूप है, उसकी श्रद्धा व ज्ञान प्रकट हुआ है और अभी साधकदशा वर्त रही है, ऐसे जीव को यहाँ अशुद्धजीव कहा है। शुद्धकारणजीव की प्रतीति तो हुई है किंतु अभी वैसी शुद्धदशा प्रकट नहीं हुई है—दशा अधूरी है—यह अधूरी अर्थात् अपूर्ण पर्याय उपादेय नहीं है, इसलिये उसकी गणना अशुद्धजीव में ही की है।

(६) उस कार्य प्रकट होने का कारण जो त्रिकालशुद्ध सहजज्ञानादि परमस्वभावगुणों का आधार है, वह 'कारणशुद्धजीव' है।

इस भाँति छह प्रकार से जीव का वर्णन किया।

यह जीव चेतन है, उसके गुण भी चेतन हैं। यहाँ गुण कहने पर अपूर्ण-पूर्ण अर्थपर्यायों को लेना।

यह जीव अमूर्त है, उसके गुण भी अमूर्त हैं; जबकि शरीर तो जड़ और मूर्त है तथा वह अमूर्त आत्मा से भिन्न है। आत्मा की किसी पर्याय में स्पर्श-रस-गंध-वर्ण हैं ही नहीं। रूपादि गुण तो मूर्त हैं, जड़ हैं; आत्मा चेतन है, और अमूर्त है। आत्मा की ज्ञानादि पर्यायें अमूर्त हैं, इसलिये कहा कि आत्मा के गुण अमूर्त और पर्यायें भी वैसी ही हैं अर्थात् व्यंजन पर्याय भी अमूर्त है।

यह शुद्ध है, इसके गुण भी शुद्ध हैं। कार्यशुद्धजीव और कारणशुद्धजीव, दोनों शुद्ध हैं और उनके शुद्धगुण हैं। यहाँ 'गुण' कहने से अर्थपर्याय समझना। आत्मा की पर्याय के दो प्रकार हैं। प्रथम अर्थपर्याय अर्थात् ज्ञानादिगुणों की पर्याय और द्वितीय व्यंजनपर्याय अर्थात् प्रदेशत्वगुण की पर्याय—उनमें से ज्ञानादिगुणों की पर्याय को यहाँ 'गुण' रूप से कहा गया है।

कार्यशुद्धजीव और कारणशुद्धजीव की अर्थपर्यायें शुद्ध हैं, इसलिये उनके शुद्धगुण हैं—ऐसा कहा है। वह आत्मा शुद्ध है और उसके गुण (अर्थपर्यायें) भी शुद्ध हैं। साधक जीव की बात है। साधक जीव के अभी अशुद्धता है, और उसके ज्ञानादि की पर्यायें अभी विभावरूप हैं, इसलिये उसके अशुद्धगुण हैं अर्थात् उसकी अर्थपर्यायें अशुद्ध हैं।

अज्ञानीजीव भी अशुद्ध जीव है और उसकी पर्यायें भी अशुद्ध हैं।

शुद्धजीव की पर्याय शुद्ध और अशुद्धजीव की पर्याय अशुद्ध है। केवलज्ञान और मतिज्ञानादि अर्थपर्याय तो पहले शुद्धगुण और अशुद्धगुण में आ गये हैं अर्थात् यहाँ पर्याय कहने पर व्यंजनपर्याय समझना।

जो त्रिकालकारणशुद्धजीव है, उसकी पर्याय भी त्रिकालशुद्ध है और जो कार्यशुद्धजीव है उसकी व्यंजनपर्याय शुद्ध हैं। उसकी अर्थपर्याय का तो पहले ही शुद्धगुण में समावेश कर लिया गया है।

साधक जीव की व्यंजनपर्याय भी अशुद्ध है। अर्थपर्याय अशुद्ध है, यह बात तो अशुद्धगुण में आ गयी अर्थात् यहाँ जो अशुद्धपर्याय कही गयी है। उसमें अकेली व्यंजनपर्याय को ही लिया गया है।

शुद्धजीव की पर्यायें शुद्ध हैं, उनमें जो कारणशुद्धजीव है, उसकी तो अर्थ और व्यंजन दोनों ही पर्यायें त्रिकालशुद्ध हैं, कार्यशुद्धजीव की भी व्यंजनपर्याय शुद्ध है। अशुद्धजीव की

अशुद्धपर्याय है ऐसा कहा है उसमें संसारदशा की विभावव्यंजनपर्याय को लेना। कारणशुद्धजीव की त्रिकाल एकरूप रहनेवाली पर्याय तो शुद्ध ही है उसको यहाँ नहीं लेना है तथा प्रदेशत्व की पर्याय भी त्रिकालशुद्ध है। संसारी जीव की आकृति में जो परनिमित्त से विभाव है, उसकी अपेक्षा वहाँ नहीं ली गयी है, क्योंकि कारणशुद्धजीव की तो व्यंजनपर्याय भी त्रिकालशुद्ध है।

कार्यशुद्धजीव के केवलज्ञानादि शुद्धगुण हैं—ऐसा कहा, उसमें अर्थपर्याय आ गयी; पश्चात्, शुद्धपर्याय है—ऐसा कहा, उसमें व्यंजनपर्याय समाविष्ट हो गयी। और जिनके मतिज्ञानादि गुण हैं, उन्हें अशुद्धगुण कहा, उसमें अर्थपर्याय आ गयी और उनकी पर्याय अशुद्ध है—ऐसा कहा, उसमें व्यंजनपर्याय आ गयी।

इसप्रकार जीव के विविध गुणपर्याय बतलाकर जीव की पहचान करवायी गयी है।

जीव के भेदों का ज्ञान करवाया; अभेद के आश्रयपूर्वक ऐसे भेदों से जीव को जाने वह व्यवहारसम्यग्दर्शन है और अभेद के आश्रयपूर्वक श्रद्धा—वह निश्चयसम्यग्दर्शन है। जीव के उपर्युक्त भेदों को इसप्रकार समझा जा सकता है —

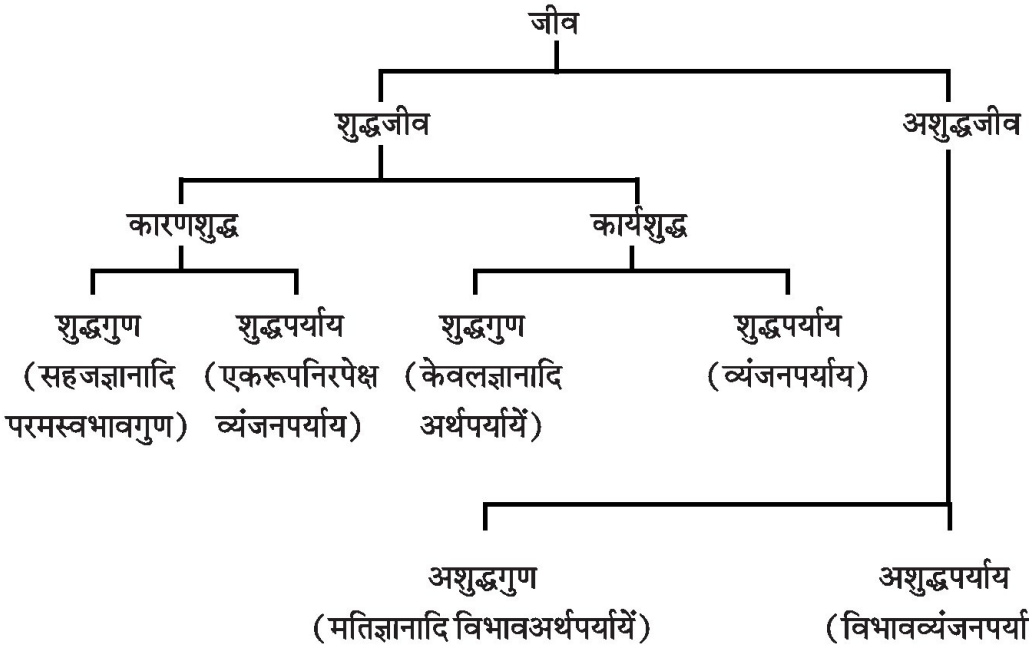

भगवान की वाणी में कहे गये छह द्रव्यों का वर्णन चल रहा है। उसमें जीवद्रव्य का

वर्णन किया, उसमें छह प्रकार बताये।

अब, जो गलन-पूरन स्वभावसहित है-वह पुद्गल है। यह पुद्गल श्वेतादिवर्णों के आधारभूत मूर्त है, इसके मूर्तगुण हैं। यह अचेतन है, इसके अचेतनगुण हैं।

बिछुड़ना और मिलना यह पुद्गल का स्वभाव है—वह स्वभाव जीव के कारण नहीं है। पुद्गल में जो श्वेत आदि रंग हैं, वे वर्णगुण की पर्यायें हैं तथा वर्ण, रस, गंध आदि पुद्गल के गुण हैं। पुद्गल के आधार से ही श्वेतादि रंग की अवस्था होती है—अन्य कोई उसका कर्ता नहीं है। 'पुद्' अर्थात् मिलना और 'गल' अर्थात् बिछुड़ना—ऐसा पुद्गल का स्वभाव है।

यहाँ रंग वगैरह की बात न करके उसकी श्वेतादि पर्यायों की बात की है। इसप्रकार पर्याय को गुण कहने की शैली है। पुद्गल में वर्णादि गुणों की जो श्वेतादि पर्यायें होती हैं उनका पुद्गल ही आधार है; अतः पुद्गल मूर्त है तथा अचेतन भी है, उसके गुण भी मूर्त व अचेतन हैं। उनकी पर्यायों की व्याख्या अजीवाधिकार में करेंगे।

स्वभावगति क्रियारूप और विभावगति क्रियारूप से परिणत जीव-पुद्गलों को स्वभावगति का और विभावगति का जो निमित्त है, वह धर्मद्रव्य है। जीव और पुद्गल गतिरूप से स्वयं अपने स्वभाव अथवा विभाव से परिणमन करते हैं, उसमें धर्मास्तिकाय मात्र निमित्त है। चौदहवें गुणस्थान के अंत में जीव ऊर्ध्वगमन स्वभाव से लोकांत में जाता है, वह जीव की स्वभावगति क्रिया है और संसारावस्था में कर्म के निमित्त से गमन करता है, वह विभावगति क्रिया है। एक अकेला पुद्गलपरमाणु गति करे वह पुद्गल की स्वभावगति क्रिया है तथा पुद्गलस्कंध गमन करे वह पुद्गल की (स्कंध के प्रत्येक परमाणु की) विभावगति क्रिया है। इस स्वाभाविक और वैभाविक गति क्रिया में धर्मद्रव्य निमित्त मात्र है।

लकड़ी चलती है वहाँ उसका प्रत्येक परमाणु अपनी विभावगति से ही चलता है—हाथ के कारण नहीं—इच्छा के कारण भी नहीं; उसकी गति में धर्मद्रव्य भी निमित्तमात्र है। स्वभावगति हो या विभावगति हो, है वह अपने से ही-और उसमें धर्मद्रव्य निमित्त है और वह अमूर्त व अचेतन है।

स्वभावस्थिति क्रियारूप से और विभावस्थिति क्रियारूप से परिणत जीव-पुद्गलों को स्थिति का (स्वभावस्थिति अथवा विभावस्थिति दोनों का) निमित्त अधर्मद्रव्य है। स्थिर होना

भी एक प्रकार की क्रिया है। सिद्ध भगवान लोकाग्र में स्थिर रहते हैं, वह उनकी स्वाभाविक क्रिया है, उसमें अधर्मद्रव्य निमित्त है।

सिद्धदशा में जीव स्थिर रहता है, वह जीव की स्वाभाविकस्थिति क्रिया है और संसारदशा में स्थिर रहता है, वह वैभाविकस्थिति क्रिया है। अकेला परमाणु स्थिर रहे वह पुद्गल की स्वाभाविकस्थिति क्रिया है और स्कंध स्थिर रहे वह पुद्गल की (स्कंध के प्रत्येक परमाणु की) वैभाविकस्थिति क्रिया है। इसप्रकार जीव-पुद्गल की स्वाभाविक एवं वैभाविकस्थिति क्रिया में अधर्मद्रव्य निमित्तमात्र है।

चौकी पर पुस्तक रखी है, उसमें उस पुस्तक का प्रत्येक परमाणु अपनी-अपनी वैभाविक स्थिति क्रिया में स्थिर है—उसमें अधर्मद्रव्य निमित्त है। उपादान तो प्रत्येक परमाणु का अपना-अपना ही है और उसमें निमित्त अधर्मद्रव्य है—ऐसा अधर्मद्रव्य का स्वभाव है। यह भी अमूर्त व अचेतन है।

पाँच द्रव्यों को अवकाश दान जिसका लक्षण है, वह आकाश है। यह पदार्थ लोकालोक में व्याप्त है। स्वयं तो क्षेत्रस्वरूप ही है तथा शेष पाँचों द्रव्यों को अवकाश देता है।

पाँच द्रव्यों को वर्तना का निमित्त है, वह कालद्रव्य है। कालद्रव्य स्वयं अपने लिये निमित्त नहीं कहा जाता। शेष पाँचों द्रव्य स्वयं परिणमन कर रहे हैं, उनमें कालद्रव्य निमित्त है।

इसप्रकार छहों द्रव्य सर्वज्ञ भगवान ने अनादि-अनंत स्वतंत्र देखे हैं। धर्म-अधर्म-आकाश और काल यह चारों ही अमूर्त अजीवद्रव्य हैं। इन चारों के गुण शुद्ध हैं और पर्यायें भी शुद्ध हैं। उनका रूपांतर होता है, वह शुद्ध है तथा आकृति भी शुद्ध ही है। उनकी अर्थ-व्यंजन दोनों पर्यायें शुद्ध हैं।

देखो, यह चार द्रव्य अकेले परमपारिणामिकस्वभावरूप हैं, इनकी उपमा आगे आत्मा में देकर आत्मा का परमपारिणामिकस्वभाव और कारणशुद्धपर्याय समझायेंगे।

इन छह द्रव्यों की पहचान करना, वह व्यवहारश्रद्धा है। आत्मा के भानसहित साधक दशा में ऐसी छह द्रव्यों की श्रद्धा का विकल्प होता है, उसे व्यवहारश्रद्धा कहते हैं।

इसप्रकार यह छह द्रव्यों का वर्णन किया।

अब आगे छह द्रव्यों की श्रद्धा का फल बतलाते हैं —

इति जिनपतिमार्गाभोधिमध्यस्थरत्नं – द्युतिपटलजटालं तद्धि षड्द्रव्यजातम्।
हृदि सुनिशितबुद्धिर्भूषणार्थं विधौ – स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥१६॥

इसप्रकार उस षट्द्रव्यसमूहरूपी रत्न को—जो तेज के अम्बार के कारण किरणोंवाला है और जो जिनपति के मार्गरूपी समुद्र के मध्य में स्थित है उसे—जो तीक्ष्ण बुद्धिवाला पुरुष हृदय में भूषणार्थ (शोभा के लिये) धारण करता है; वह पुरुष परम श्रीरूपी कामिनी का वल्लभ होता है। अर्थात् जो पुरुष अंतरंग में छह द्रव्य की यथार्थ श्रद्धा करता है, वह मुक्तिलक्ष्मी का वरण करता है।

छहों द्रव्यों को रत्न की उपमा दी है, वे सभी द्रव्य निज-निज पर्यायों से शोभित हैं, जिनेन्द्रदेव के मार्ग के अतिरिक्त यह छह द्रव्य अन्यत्र नहीं हैं; अतः जिनमार्गरूपी जो समुद्र उसके मध्य में इन छह द्रव्यों के समूहरूपी रत्न रहते हैं। जो तीक्ष्णबुद्धिवाले पुरुष अपने ज्ञान में इन छह द्रव्यों को जानते हैं, वे पुरुष मुक्तिलक्ष्मी को पाते हैं। इन छह द्रव्यों का यथार्थ ज्ञान आत्म-शोभा का कारण है। छह द्रव्यों की यथार्थ श्रद्धा करनेवाला मोक्ष पाता है।

ज्ञान का स्वभाव इन छहों द्रव्यों को ज्ञेय करने का है। ऐसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करने पर उसमें छहों द्रव्यों की प्रतीति का समावेश हो जाता है। इसलिये जिस तिर्यंच को आत्मा के ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा है, उसे भी छह द्रव्य की श्रद्धा की सूक्ष्मबुद्धि है। ज्ञान के तेज में छहों द्रव्य ज्ञात होते हैं, क्योंकि छहों द्रव्यों में ज्ञान का ज्ञेय होने की शक्ति है। ऐसे छह द्रव्यों को जो जीव अपने आत्मा की शोभा के लिये जानकर श्रद्धा करता है, वह मोक्ष को प्राप्त करता है।

सर्वज्ञकथित छह द्रव्यों का वर्णन किया; परंतु यहाँ जीव का अधिकार है, अतः जीव का वर्णन विशेष करेंगे।

द्रव्यसंग्रह प्रवचन

वृहद्द्रव्यसंग्रह पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन सन् १९५२ में हुए थे। जिज्ञासु पाठकों के लाभार्थ उन्हें यहाँ क्रमशः दिया जा रहा है।

[गतांक से आगे]

(२) सासादन गुणस्थान

पहिले जीव उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त हो, बाद में अनंतानुबंधी क्रोधादि किसी कषायभाव का उदय होने से सम्यक्त्व से भ्रष्ट हुआ हो, लेकिन अभी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं हुआ है; वहाँ बीच के समय में रहे हुए—ठहरे हुए जीव को सासादन गुणस्थान होता है। यह अवस्था भी जीव की योग्यता से होती है। स+आसातन=चैतन्यस्वरूप की आसातना (विराधना) करने से अभी मिथ्यात्व में गया नहीं है, उसके पूर्व की यह दशा–अवस्था है।

पाषाण में खुदाई का काम (नक्काशी) किया हो, वह जैसे मिटता नहीं है; वैसे यह अनंतानुबंधी अनंत संसार के कारणरूप कषाय है, वह पाषाण–रेखा समान कठिन है, तीव्र है। ऐसे तीव्र कोध, मान, माया, लोभ उत्पन्न होने से स्वभाव का आचरण छूट जाता है। वह कोई निमित्त अथवा कर्म के कारण से नहीं है, परंतु जीव के अपराध से ही है।

चिदानंदमूर्ति आत्मा का देह, वाणी, मनरहित भान (ज्ञान) वह प्रथम उपशमसम्यक्त्व है। जैसे पानी में कीचड़ नीचे बैठ गयी है और उस समय पानी की जैसी निर्मलता है, वैसी उपशमसम्यक्त्व वाले जीव की दशा है।

जैसे वृक्ष से फल गिर गया, किंतु अभी जमीन पर नहीं पहुँचा है व बीच में है; वैसे सम्यक्त्वावस्था से छूटकर जीव मिथ्यात्व भूमिका को प्राप्त नहीं हुआ है, उसके पहिले की यह अवस्था है। सर्वज्ञ के अतिरिक्त इन चौदह गुणस्थान की अवस्था का वर्णन कोई नहीं कर सकता है। प्रत्येक भूमिका की सूक्ष्म अवस्था का स्वरूप जो सर्वज्ञ ने कहा है, वह जानना चाहिये। वे सभी अवस्थायें जीव की योग्यता से ही हुई हैं, वह कोई कर्मादि के कारण से नहीं हुई हैं।

यहाँ प्रथम गुणस्थान के बाद दूसरा गुणस्थान कहा, किंतु यहाँ ऐसा न समझना कि पहिले गुणस्थान के बाद दूसरा गुणस्थान आता है। पहिले गुणस्थान के बाद सीधा दूसरा

गुणस्थान कभी किसी जीव को होता ही नहीं है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को सम्यक्त्व होते ही पहले सीधा चौथा गुणस्थान होता है, और उसके बाद भ्रष्ट होनेवाले जीव को ऐसा दूसरा गुणस्थान होता है। उसमें पहिले गुणस्थान की अपेक्षा शुद्धता की विशेषता है।

देखिये, यहाँ यह सभी गुणस्थान तथा मार्गणास्थान वगैरह के भेदों का वर्णन कर ऐसा कहा है कि यह सभी भेद जीव की पर्याय में हैं—अर्थात् यह सभी जीव के भाव हैं, ऐसा अशुद्धनय से जानना। शुद्धनय से सभी जीव शुद्ध हैं। ऐसे दोनों पहलुओं से जीव को पहिचानना चाहिये। [क्रमशः]

ज्ञान-गोष्ठी

सायंकालीन तत्त्वचर्चा के समय विभिन्न मुमुक्षुओं द्वारा पूज्य स्वामीजी से किये गये प्रश्न और स्वामीजी द्वारा दिये गये उत्तर।

प्रश्न– स्वरूप का अनुभव हुआ न हो और शुभ को हेय जानने लगे तो इससे क्या स्वच्छंदी नहीं हो जायेगा?

उत्तर– शुभराग को हेय जानने से शुभराग छूटता नहीं है। स्वभाव का माहात्म्य आने पर शुभराग का माहात्म्य छूट जाता है; परंतु शुभराग छूटता नहीं। शुभराग तो भूमिकानुसार अपने काल में आये बिना रहता नहीं। वस्तु के सच्चे स्वरूप का ज्ञान करने पर स्वच्छंदता रह नहीं सकती।

प्रश्न– यह सत्य बात सुनने पर भी वर्तमान में धर्म प्राप्त न हो तो?

उत्तर– सत्य का श्रवणादि रसपूर्वक करता है इसलिये उससे संस्कार पड़ते हैं; इन संस्कारों से

धर्म प्राप्त होता है। भले अभी विकल्प न टूटे तो भी उसके संस्कार से भविष्य में धर्म प्राप्त होता है।

प्रश्न– ज्ञान का स्वभाव जानने का ही है तो स्वयं अपने को क्यों नहीं जानता ?

उत्तर– ज्ञान स्वयं को जानता है, उसका स्वभाव स्वयं को जानने का है; परंतु अज्ञानी की दृष्टि तो पर के ऊपर है। अत: स्वयं को जानता नहीं, पर में अधिकता पड़ी है अर्थात् पर को अधिक मानने के कारण स्वयं अपने को नहीं जानता। अधिकपने का इसका बल पर में जाता है, अत: अपने को नहीं जान पाता।

प्रश्न– ज्ञानगुण में जितने अविभाग-प्रतिच्छेद हैं, उतने अविभाग-प्रतिच्छेद सभी गुणों में हैं क्या ?

उत्तर– हाँ, जितने अविभाग-प्रतिच्छेद एक ज्ञानगुण में है, उतने ही श्रद्धा-चारित्र-वीर्यादि सभी गुणों में हैं। जिसका भाग करने पर दूसरा भाग न हो सके ऐसे अविभाग-प्रतिच्छेद एक गुण में अनंत हैं; यह अनंत अविभाग-प्रतिच्छेद केवलज्ञान होने पर पूर्ण प्रगट होने पर भी ज्ञानगुण में से घटते नहीं—ऐसा ही स्वभाव है। यह बहुत सूक्ष्म बात है। ज्ञान के अतिरिक्त अन्य गुण कुछ जानते नहीं हैं, इसलिये उन गुणों के अविभाग-प्रतिच्छेद कुछ कम होते होंगे—ऐसा नहीं है।

समाचार दर्शन

गुजरात दि० जैन समाज द्वारा श्री कुन्दकुन्द कहान तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट को भारी योगदान
श्री पंडित बाबूभाई मेहता का तूफानी दौरा : आठ लाख के लगभग दानराशि के वचन प्राप्त

श्री कुन्दकुन्द कहान तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट के अध्यक्ष श्री पंडित बाबूभाई मेहता, ट्रस्ट के महामंत्री श्री माणिकलाल आर० गाँधी बम्बई, श्री पंडित ज्ञानचंदजी विदिशा, श्री मोहनलाल सेठ तलोद, श्री मंगलदास सेठ तलोद, श्री ताराचंद गाँधी तलोद, श्री मीठालाल दोशी हिम्मतनगर, श्री पंडित चन्दूभाई एवं श्री नाथाभाई फतेहपुर ने दिनांक २८.१.७८ से १५.२.७८ तक गुजरात प्रांत का तूफानी दौरा किया। इस दौरे का उद्देश्य तत्त्वप्रचार एवं तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट का फंड एकत्रित करना था।

इस अल्पावधि में ३६ ग्रामों व नगरों का दौरा किया। स्थान-स्थान पर आप लोगों का स्वागत किया गया। श्री पंडित बाबूभाई एवं पंडित ज्ञानचंदजी के प्रतिदिन तीनों समय के आध्यात्मिक प्रवचनों का समाज ने लाभ लिया। अनेक लोगों की मिथ्या भ्रांतियाँ टूटीं। प्रवचन के बाद श्री बाबूभाई द्वारा तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट का सामान्य परिचय देने पर सभी स्थानों से बड़े हर्षोल्लास के साथ तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट को भारी मात्र में दानराशि की घोषणाएँ हुईं। इन ३६ स्थानों से ७,९३,११४ रुपये की दानराशि के वचन प्राप्त हुए हैं। **— पंडित ज्ञानचंद जैन**

दिल्ली में अभूतपूर्व धर्म प्रभावना : तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट को महत्त्वपूर्ण योगदान

दिल्ली – स्थानीय मॉडलबस्ती में श्री सुरेन्द्रकुमारजी जैन व उनके परिवार द्वारा दिनांक १५ फरवरी से २२ फरवरी १९७८ तक श्री सिद्धचक्र मंडल विधान का अपूर्व आयोजन किया गया। इस विधान में प्रवचन हेतु अध्यात्मप्रवक्ता श्री पंडित बाबूभाई मेहता, डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल, पंडित रतनचंदजी शास्त्री तथा पंडित ज्ञानचंदजी पधारे। मॉडलबस्ती, लालमंदिर, मोदीनगर, शक्तिनगर, गाँधीनगर, शाहदरा तथा अशोकविहार आदि स्थानों पर समागत विद्वानों के प्रवचन हुए, जिससे दिल्ली नगर में अपूर्व धर्म प्रभावना हुई। विधान का कार्य श्री पंडित बाबूभाई अशोकनगरवालों द्वारा सानन्द संपन्न हुआ। इस अवसर पर श्री कुन्दकुन्द कहान तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट को १,२३,८७७ रुपये की धनराशि के वचन प्राप्त हुए।

समापन समारोह के अवसर पर धार्मिक साहित्य का स्थायी बुकस्टाल चलाने के लिये व्यवस्था का निर्णय किया गया, जिसके लिये दस हजार रुपये का अनुदान उपस्थित समाज से प्राप्त हुआ। **— ज्ञानचंद जैन, प्रचार मंत्री, श्री दि० जैन मुमुक्षु मंडल**

उपाध्याय मुनि श्री विद्यानंदजी द्वारा मंगल आशीर्वाद

बड़ौत (उ०प्र०) - ५ फरवरी १९७८ को स्थानीय वीतराग-विज्ञान पाठशाला में १६५ विद्यार्थियों ने परीक्षा में भाग लिया। आध्यात्मिक संत उपाध्याय मुनि श्री विद्यानंदजी के सान्निध्य में उक्त परीक्षा आयोजित की गयी। अन्त में मुनिश्री ने पाठशाला के संचालकों की प्रशंसा करते हुए छात्रों को मंगल आशीर्वाद दिया। **— शिखरचंद जैन**

डॉ० कोठिया द्वारा वीतराग-विज्ञान पाठशाला की सराहना

सोंरई (उ०प्र०) - श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड, जयपुर के शीतकालीन परीक्षा के कार्यक्रम के अनुसार दिनांक ५, ६ व ७ फरवरी १९७८ को स्थानीय वीतराग-विज्ञान पाठशाला के बालक-बालिकाओं की परीक्षा श्रीमान् विद्वद्वर्य डॉ० दरबारीलालजी कोठिया के सान्निध्य में सम्पन्न हुई। डॉ० कोठियाजी ने स्वयं बालकों से प्रश्न पूछे। बालकों को विषय की बहुत अच्छी तैयारी थी, इसलिए उन्होंने बिना झिझक के उत्तर दिये। नन्हें-मुन्ने बालकों के सही-सही उत्तरों से डॉ० कोठियाजी बहुत ही प्रसन्न हुए और बालकों के उत्साहवर्द्धनार्थ १५) रुपये पुरस्कार में दिये। आपने परीक्षाबोर्ड के पाठ्यक्रम की भूरि-भूरि प्रशंसा की। **— दयाचंद जैन सोंरई, अध्यापक**

नवीन वीतराग-विज्ञान पाठशाला की स्थापना

कुचामन सिटी (राज) - भारतवर्षीय वीतराग-विज्ञान पाठशाला समिति के निरीक्षक श्री पंडित गोविंदप्रसादजी यहाँ पधारे। आपके प्रवचनों से प्रभावित होकर समाज ने आग्रहपूर्वक पाँच दिन रुकने का आपसे निवेदन किया। इन पाँच दिनों में पंडितजी के प्रतिदिन तीन समय मोक्षमार्गप्रकाशक पर प्रवचन हुए तथा इनकी प्रेरणा से एक वीतराग-विज्ञान पाठशाला का शुभारंभ हुआ। समाज की ओर से बच्चों को फल बाँटे गये।

यहाँ श्री जिनेश्वरदास दि० जैन उच्च प्राथमिक विद्यालय में श्री वी० वि० विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड का पाठ्यक्रम पिछले आठ वर्षों से पढ़ाया जाता है। **— रतनलाल झांझरी**

अहमदाबाद (गुजरात) - स्थानीय अ० भा० जैन युवा फैडरेशन की नवीन खोली गयी शाखा द्वारा प्रत्येक रविवार को सामूहिक स्वाध्याय का आयोजन किया जाता है। रविवारीय पाठशाला खोलकर धार्मिक शिक्षण की दिशा में फैडरेशन ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। विगत दिनों श्री बाबूभाई मेहता के आगमन पर फैडरेशन के सदस्यों ने श्री कुन्दकुन्द कहान तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट को आर्थिक सहयोग दिया। **— सुमतिप्रकाश जैन, सचिव**

विजयनगर (आसाम) - अ० भा० जैन युवा फैडरेशन की नवीन शाखा स्थापित की गयी। कार्यकारिणी का चुनाव संगठनमंत्री श्री किशोरकुमार जैन की अध्यक्षता में हुआ। समिति में १५ सदस्य चुने गये। फैडरेशन द्वारा विचार-गोष्ठी, सेमीनार एवं विभिन्न सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन किया गया। **— अध्यक्ष**

ग्वालियर (म०प्र०) - स्थानीय दानाओली में सिद्धचक्र मंडल विधान एवं वेदी प्रतिष्ठा महोत्सव श्री पंडित धन्नालालजी के सान्निध्य में सानन्द संपन्न हुआ। इस अवसर पर श्री पंडित जगन्मोहनलालजी शास्त्री, कटनी तथा श्री पंडित केसरीचंदजी 'धवल' के आध्यात्मिक प्रवचनों का भी आयोजन किया गया। स्थानीय वीतराग-विज्ञान पाठशाला के छात्रों ने बालबोध पाठमाला के आधार पर तैयार किये रोचक संवाद प्रस्तुत किये। समाज में महती धर्मप्रभावना हुई।

— डॉ० प्रद्युम्नकुमार जैन

मोदीनगर (उ०प्र०) - १९ फरवरी, १९७८ रविवार को स्थानीय मंदिर के वार्षिकोत्सव एवं रथयात्रा महोत्सव के अवसर पर डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल का 'भगवान महावीर और उनकी अहिंसा' पर मार्मिक प्रवचन हुआ। इस अवसर पर श्री प्रेमचंदजी जैन, जैनावाच कंपनी, दिल्ली का व्याख्यान एवं श्री ताराचंदजी दिल्ली के धार्मिक गीत भी हुए।

इंदौर (म०प्र०) - जैन दर्शन, धर्म एवं साहित्य पर पीएच०डी० हेतु मध्यप्रदेश के विभिन्न विश्वविद्यालय के पंजीयत छात्रों को आवश्यकतानुसार शोध-छात्रवृत्ति प्रदान करने हेतु महावीर ट्रस्ट, शीशमहल, सर हुकमचंद मार्ग, इंदौर द्वारा एक योजना तैयार की गयी है। पंजीयत शोधवृत्ति के इच्छुक छात्र संपक करें। **—जमनालाल जैन, संयोजक**

हैदराबाद - २२ मार्च से २५ मार्च १९७८ तक पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी यहाँ विराजेंगे। आत्मार्थी बन्धु धर्मलाभ के लिये अवश्य पधारें। **— जेठालाल एच० दोशी**

आयोजकों की आवश्यकता

श्री दिगंबर जैन महासमिति के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु तथा कार्यों को व्यापक बनाने की दृष्टि से भ्रमण के लिये निष्ठावान, धर्मप्रेमी, समाजसेवी, शिक्षित, सेवानिवृत्त आयोजकों की आवश्यकता है। ऐसे इच्छुक महानुभाव जो केन्द्रीय कार्यालय व आंचलीय समितियों के निकट निवास करते हों, अपनी योग्यता व सुविधाओं के साथ निम्न पते पर आवेदन करें—

मंत्री, श्री दिगंबर जैन महासमिति, बी ४५-४७, कनाट प्लेस, नयी दिल्ली-११०००१

आत्मार्थी छात्रों को अपूर्व अवसर

आत्मार्थी विद्यार्थियों के लिये जुलाई १९७७ से टोडरमल स्मारक भवन में ऐसी व्यवस्था प्रारंभ हो चुकी है कि जिसमें आत्मार्थी छात्र डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल के सान्निध्य में रहकर जैन धर्म का सैद्धांतिक अध्ययन चारों अनुयोगों के माध्यम से करते हैं; साथ ही आवश्यक संस्कृत, व्याकरण, न्याय आदि विषयों का भी ज्ञान प्राप्त करते हैं। अभी १३ आत्मार्थी छात्र अध्ययन कर रहे हैं।

इस वर्ष सिर्फ १० छात्रों को नवीन प्रवेश देना है।

उक्त छात्रों को राजस्थान विश्वविद्यालय की जैनदर्शन शास्त्री एवं जैनदर्शन आचार्य परीक्षायें दिलायी जाती हैं, जो क्रमश: बी०ए० और एम०ए० के बराबर सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त हैं।

शास्त्री परीक्षा में प्रवेश के लिये वैकल्पिक विषय संस्कृत लेकर हायर सेकेण्डरी उत्तीर्ण होना आवश्यक है। जिन छात्रों का हायर सेकेण्डरी में वैकल्पिक विषय संस्कृत न होगा, उन्हें एक वर्ष का उपाध्याय कोर्स करना होगा। आवेदन करते समय अपनी शैक्षणिक योग्यता वैकल्पिक विषयों सहित अवश्य लिखें।

शास्त्री का कोर्स ३ वर्ष का होगा। उसके बाद २ वर्ष का कोर्स आचार्य परीक्षा का होगा।

आवास और भोजन की सुविधा नि:शुल्क रहेगी। हायर सेकेण्डरी के बाद तीन वर्ष का शास्त्री कोर्स करनेवालों को ३५०) और उसके बाद दो वर्ष का आचार्य कोर्स करनेवालों को ५००) रुपये मासिक सर्विस दिलाये जाने की गारंटी दी जायेगी। पर उन्हें भी इस बात का बाण्ड भरना होगा कि वे ५ वर्ष तक उक्त वेतनक्रम पर जहाँ संस्था कहे वहाँ सेवा करने को तत्पर रहेंगे।

आध्यात्मिक वातावरण प्रदान करने के लिये आदरणीय विद्वद्वर्य पंडित खीमचंदभाई, सिद्धांताचार्य पंडित फूलचंदजी वाराणसी, पंडित लालचंदभाई मोदी, पंडित बाबूभाई फतेहपुर, श्री नेमीचंदजी पाटनी आगरा, पंडित रतनचंदजी विदिशा, पंडित ज्ञानचंदजी विदिशा आदि का सान्निध्य प्राप्त होगा। डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल तो यहाँ हैं ही।

वर्ष में एक या दो बार सोनगढ़ भी ले जाया जायेगा। सब कुछ मिलाकर लगभग एक माह का पूज्य स्वामीजी के सान्निध्य का लाभ मिलेगा।

अत: पूरा-पूरा आध्यात्मिक वातावरण मिलेगा।

अगला सत्र जुलाई १९७८ से प्रारंभ होगा। प्रवेशार्थी शीघ्र ही प्रार्थना-पत्र प्रेषित करें। यदि उन्हें प्रवेश योग्य समझा गया तो फिर यथासमय साक्षात्कार के लिये बुलाया जायेगा।

नेमीचंद पाटनी
मंत्री

पाठकों के पत्र

दलपतपुर (म०प्र०) से श्री विनोदकुमारजी जैन लिखते हैं —

आत्मधर्म मिलते ही ऐसा लगता है कि कब पूरा अंक पढ़ लूँ। फरवरी अंक में 'पच्चीस वर्ष पहले' स्तंभ में पंच परमेष्ठी गुरुओं के ऊपर भाव-भीनी चर्चा लिखी है; जो मन को अत्यंत द्रवित कर देती है तथा मुनिराजों के प्रति पूजा-वंदना भाव जागृत कर देती है।

तलोद (गुजरात) से श्री कान्तिलालजी शाह लिखते हैं —

'पूज्य गुरुदेव से एक और इंटरव्यू' बहुत अच्छा रहा। ऐसे इंटरव्यूओं से लोगों में फैलाया गया गलत प्रचार दूर होगा तथा समाज में व्याप्त भ्रांत धारणाओं का निराकरण होगा।

अलीगढ़ (राजस्थान) से श्री राजमलजी गोधा लिखते हैं —

पूज्य कानजीस्वामी से लिया गया इंटरव्यू 'मुनिराज तो चलते फिरते सिद्ध हैं' समयोपयोगी है। इससे समाज में फैली हुई गलत भ्रांतियों को दूर करने में काफी मदद मिलेगी। सभी इंटरव्यूओं को पुस्तकरूप में प्रकाशित कर दिया जावे तो अति उत्तम होगा।

रामगढ़केंट (बिहार) से श्री महीपालजी सेठी लिखते हैं —

उत्तम संयम का विस्तृत विश्लेषण एवं 'इंटरव्यू' सोये हुए की आँख खोलनेवाले हैं। इसकी भाषा सुगम और सरल होने के कारण जनमानस में अधिक प्रभावशाली है।

कुम्हेड़ी (उ०प्र०) से श्री किशोरीलालजी लिखते हैं —

समाज के अशांत वातावरण को नि:शांत बनाने का श्रेय एकमात्र आत्मधर्म को ही है। परमागम के गूढ़ अर्थों का ऐसा सरल, स्पष्ट एवं रोचक विवेचन पढ़कर मैं आत्मविभोर हो जाता हूँ। स्वामीजी से साक्षात्कार समाज के भ्रम को दूर करेगा, ऐसा विश्वास है।

छिंदवाड़ा (म०प्र०) से प्रभा वात्सल्य लिखती हैं —

चिर नवीन आत्मधर्म तो विगत ३२ वर्षों से प्रकाशित हो रहा है, लेकिन हम उसके नियमित पाठक विगत दो वर्षों से हैं। बत्तीस वर्षों में आत्मधर्म ने न जाने कितने जिज्ञासुओं का कल्याण-मार्ग प्रशस्त किया होगा, ज्ञात नहीं। लेकिन दो वर्षों में जो क्रांतिकारी परिवर्तन हमारे मन के ऊपर हुए हैं, आत्मा के वास्तविक धर्म का जो वातायन हमारे मन में खुला है, और जिस निरभ्र आत्मआकाश के दर्शन का सिलसिला चला है; उसकी अभिव्यक्ति न तो वाणी के द्वारा संभव है, और न ही शब्दों के द्वारा।

कर्र (म०प्र०) से श्री सतीश जैन एम०ए० लिखते हैं —

आत्मधर्म के सभी अंक देखे। पूज्य स्वामीजी के इंटरव्यू से समाज में फैली भ्रांत धारणाएँ कम होंगी, ऐसी आशा है।

प्रबंध संपादक की कलम से

कृपया निम्नलिखित सूचनाओं पर अवश्य ध्यान दें —

(१) आत्मधर्म का डिस्पैचिंग कार्य पूर्णरूपेण व्यवस्थित है। यदि फिर भी डाक अव्यवस्था या अन्य किसी कारण से आपको आत्मधर्म माह की १५ तारीख तक प्राप्त न हो तो आप हमें सूचित करें। हम आपको तत्काल दुबारा अंक भेज देंगे।

(२) पत्र-व्यवहार करते समय आप अपना ग्राहक नंबर अवश्य लिखें।

(३) आत्मधर्म के ग्राहकों को भेंट में दी जानेवाली पुस्तक के लिये अप्रेल के आत्मधर्म में विज्ञप्ति प्रकाशित की जाएगी व तदनुसार पुस्तक भेजी जावेगी। अत: इस संबंध में अभी पत्र-व्यवहार करने का कष्ट न करें।

(४) सत्य की खोज भाग २ के प्रकाशन में अभी लगभग एक वर्ष का विलंब है। अत: धैर्य रखें।

(५) महावीर जयंती पर वितरण के लिये डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल द्वारा लिखित 'तीर्थंकर भगवान महावीर' (मूल्य ४० पैसा) पुस्तिका मात्र ३०) रुपये सैकड़े में श्री टोडरमल स्मारक भवन से प्राप्त कर सकते हैं।

आत्मधर्म के स्वामित्व का विवरण

फार्म नं० ४, नियम नं० ८

समाचार पत्र का नाम	:	आत्मधर्म (हिन्दी)
प्रकाशन का स्थान	:	ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४
प्रकाशन अवधि	:	मासिक
प्रकाशक एवं स्वत्वाधिकारी	:	श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ (सौराष्ट्र, गुजरात)
संपादक	:	डॉ० हुकमचंद भारिल्ल
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	श्री टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४
मुद्रक	:	जयपुर प्रिंटर्स, मिर्जा इस्माइल रोड, जयपुर ३०२००१

मैं, डॉ० हुकमचंद भारिल्ल, एतद् द्वारा घोषणा करता हूँ कि मेरी अधिकृत जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिये गये विवरण सत्य हैं। **– डॉ० हुकमचंद भारिल्ल,** संपादक

पच्चीस वर्ष पहले

[इस स्तंभ में आज से पच्चीस वर्ष पहले आत्मधर्म (हिंदी) मे प्रकाशित महत्त्वपूर्ण अंशों को प्रकाशित किया जाता है।]

सन्तों का पराक्रम

''परम पारिणामिक भाव को प्रकाशित करनेवाले श्री नियमसार परमागम और उसकी टीका की रचना छट्ठे-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए महासमर्थ मुनिवरों द्वारा द्रव्य के साथ पर्याय की एकता साधते-साधते हो गयी है। जैसे शास्त्र और टीका रचे गये हैं, वैसा ही वेदन स्वयं कर रहे हैं। परम पारिणामिक भाव के अंतर-अनुभव को ही उन्होंने शास्त्र में उतारा है; प्रत्येक अक्षर शाश्वत, टंकोत्कीर्ण, परमसत्य। निरपेक्ष कारणशुद्धपर्याय, स्वरूपप्रत्यक्ष सहज ज्ञान आदि विषयों का निरूपण करके तो मुनिवरों ने अध्यात्म की अनुभवगम्य, अत्यंत सूक्ष्म और गहन बात को स्पष्ट किया है। सर्वोत्कृष्ट परमागम श्री समयसार में भी उन विषयों का ऐसा स्पष्ट रूप से निरूपण नहीं है। अहो! जिसप्रकार कोई पराक्रमी पुरुष वन में जाकर सिंहनी का दूध दुह लाये; उसीप्रकार आत्मपराक्रमी महामुनिवरों ने वन में बैठे-बैठे अंतर के अमृत का दोहन किया है। सर्वसंग परित्यागी निर्ग्रंथों ने वन में रहकर सिद्ध भगवंतों के साथ बातें की हैं और अनंत सिद्ध भगवंत किसप्रकार सिद्धि को प्राप्त हुए उसका इतिहास इसमें भर दिया है।''

[आत्मधर्म, वर्ष ८, अंक ८५, वैशाख वी० नि० सं० २४७९, पृष्ठ २]

Registration. No. RJ-2712

हमारे यहाँ प्राप्त प्रकाशन*

मोक्षशास्त्र	१२-००
समयसार	१२-००
समयसार पद्यानुवाद	०-७०
समयसार कलश टीका	६-००
प्रवचनसार	१२-००
पंचास्तिकाय	७-५०
नियमसार	५-५०
नियमसार पद्यानुवाद	०-४०
अष्टपाहुड़	१०-००
समयसार नाटक	७-५०
समयसार प्रवचन भाग १	६-००
समयसार प्रवचन भाग २	प्रेस में
समयसार प्रवचन भाग ३	५-००
समयसार प्रवचन भाग ४	७-००
आत्मावलोकन	३-००
श्रावकधर्म प्रकाश	३-५०
द्रव्यसंग्रह	१-५०
लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-४०
प्रवचन परमागम	२-५०
धर्म की क्रिया	२-००
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग १	१-५०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग २	१-५०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग ३	१-५०
तत्त्वज्ञान तरंगिणी	५-००
अलिंग-ग्रहण प्रवचन	१-६०
वीतराग-विज्ञान भाग ३ (छहढाला पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन)	१-००
बालपोथी भाग १	०-६०
बालपोथी भाग २	प्रेस में
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	४-००
बालबोध पाठमाला भाग १	०-५०
बालबोध पाठमाला भाग २	०-७०
बालबोध पाठमाला भाग ३	०-७०
वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग १	०-७०
वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग २	१-००
वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग ३	१-००
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १	१-२५
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २	१-२५
जयपुर (खानियाँ) तत्त्वचर्चा भाग १ व २	३०-००

मोक्षमार्गप्रकाशक		प्रेस में
पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व		१०-००
तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ		५-००
" " (पॉकेट बुक साइज में हिन्दी में)		२-००
मैं कौन हूँ?		१-००
तीर्थंकर भगवान महावीर		०-४०
वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर		०-२५
अपने को पहचानिए		०-५०
अर्चना (पूजा संग्रह)		०-४०
मैं ज्ञानानंद स्वभावी हूँ (कैलेंडर)		०-५०
पंडित टोडरमल : जीवन और साहित्य		०-६५
कविवर बनारसीदास : जीवन और साहित्य		०-३०
सत्तास्वरूप		१-७०
सुंदरलेख बालबोध पाठमाला भाग १		प्रेस में
अनेकांत और स्याद्वाद		०-३५
युगपुरुष श्री कानजीस्वामी		१-००
वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका		३-००
सत्य की खोज (भाग १)		२-००
आचार्य अमृतचंद्र और उनका पुरुषार्थसिद्धयुपाय	साधारण :	२-००
	सजिल्द :	३-००

Licence No.
P. P. 16-S.S.P. Jaipur City Dn.
Licensed to Post
Without Pre-Payment

If undelivered please return to :
प्रबन्ध-संपादक, आत्मधर्म
ए-४, टोडरमल स्मारक भवन, बापूनगर
जयपुर ३०२००४